वेक ज्योति

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी - फरवरी - मार्च

★ १९७२ ★

प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक ● **ब्रह्मचारी देवेन्द्र**

सह-सम्पादक ● **ब्रह्मचारी सन्तोष**

वार्षिक ४) **वर्ष १०** **अंक १** **एक प्रति १)**

फोन : १०४६

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर (मध्यप्रदेश)

अनुक्रमणिका

कव्हर चित्र परिचय—स्वामी विवेकानन्द
(सैन फ्रान्सिस्को, अमेरिका में : फरवरी १९००)

मुद्रण स्थल : मॅजेस्टिक प्रिंटिंग प्रेस, तिलक पुतला, नागपुर-२

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १०] जनवरी – फरवरी – मार्च [अंक १

वार्षिक शुल्क ४) ★ १९७२ ★ एक प्रति का १)

पथच्युत की दुर्गति

लक्ष्यच्युतं चेद्यदि चित्तमीषद्
बहिर्मुखं सन्निपतेत्ततस्ततः ।
प्रमादतः प्रच्युतकेलिकन्दुकः
सोपानपंक्तौ पतितो यथा तथा ।।

--यदि चित्त लक्ष्य से तनिक भी च्युत हुआ और बहिर्मुख बना, तो वह उसी प्रकार नीचे-नीचे गिरने लगता है, जैसे सीढ़ी पर असावधानी से हाथ से छूटी गेंद टप्पे खाती हुई नीचे ही नीचे गिरने लगती है ।

--विवेकचूडामणि, ३२५ ।

मरने पर कौन किसका साथी

किसी शिष्य ने अपने गुरु से कहा, "महाराज ! आप संसार छोड़ने के लिए तो कहते हैं, पर मेरी पत्नी का मुझ पर बड़ा प्रेम है। इसलिए मैं संसार का त्याग नहीं कर सकता।" यह शिष्य अपने गुरु की देख-रेख में हठयोग का अभ्यास किया करता था। उसने अपने सेवा-भाव और आज्ञा-पालन से गुरु की प्रसन्नता अर्जित कर ली थी। गुरुजी चाहते थे कि उनका यह प्यारा शिष्य संसार के झमेले से मुक्त हो जाय। पर जब उन्होंने उससे उपर्युक्त दलील सुनी, तो उसे यह विश्वास दिलाने के लिए कि उसकी दलील कितनी लचर है, उन्होंने एक युक्ति सोची और शिष्य को हठयोग की कुछ रहस्यात्मक प्रक्रियाएँ सिखलायीं।

एक दिन अचानक देखा गया कि शिष्य के घर में कुहराम मचा है। सगे-सम्बन्धी सिर पीट-पीटकर रो रहे हैं। जब पड़ोसियों ने यह सुना तो वे दौड़े आये। आकर उन्होंने अत्यन्त विस्मय और दुःख के साथ देखा कि शिष्य अपने कमरे में निस्पन्द पड़ा है और उसके अंग-प्रत्यंग विचित्र ढंग से अकड़ गये हैं; शरीर में जीवन के कोई लक्षण नहीं दिखायी दे रहे हैं। शिष्य की पत्नी बिलख रही थी, " नाथ ! मुझे अकेली छोड़कर कहाँ चले गये ? मैंने ऐसा कौनसा अपराध किया था ? गये तो मुझे भी साथ ले चलना था ! हाय राम ! मेरा तो

सुहाग ही लुट गया। किसने जाना था कि मुझ अभागिन को ये दुर्दिन भी देखने होंगे !"

इधर घर के अन्य लोग इस बीच खाट ले आये और मुर्दे को घर से निकालने की तैयारी करने लगे। आखिर मुर्दा कब तक घर में पड़ा रहेगा ? उसका दाह-संस्कार तो करना होगा। पर उसकी पत्नी पछाड़ खा-खाकर मुर्दे पर गिर पड़ती और उसे उठाने न देती। अन्त में जोर-जबरदस्ती करके घर के लोगों ने पत्नी को अलग किया और मुर्दे को निकालने लगे। पर यह क्या ! एक नयी मुसीबत उनके सामने आ खड़ी हुई। चूँकि मुर्दे का शरीर अकड़कर टेढ़ा-मेढ़ा हो गया था, वह दरवाजे में अटक गया और बाहर निकले ही न। यह देख एक पड़ोसी कुल्हाड़ी ले आया और दरवाजे की लकड़ी की चौखट को काटने लगा। अब तक जो पत्नी दहाड़ें मार-मारकर रो रही थी और पछाड़ें खा-खाकर गिर रही थी, उसने जब चौखट पर कुल्हाड़ी की आवाज सुनी, तो लपककर वहाँ आयी। यद्यपि वह तब भी रो रही थी पर व्यग्रता से उसने पूछा कि वह सब क्या किया जा रहा है। किसी पड़ोसी ने बताया कि चूँकि उसके पति का शरीर टेढ़ा-मेढ़ा होने के कारण दरवाजे में अटक गया है और बाहर नहीं निकल रहा है, इसलिए वे लोग दरवाजे को काट रहे हैं। यह सुन पत्नी चिल्ला उठी, "नहीं, नहीं। दरवाजे को मत काटो। अब तो मैं विधवा हो गयी और कोई मेरी देखभाल के लिए है

नहीं । अपनी पिताहीन सन्तानों का पालन-पोषण अब मुझी को करना है । अगर अभी तुम दरवाजे को काट डालोगे, तो बाद में उसकी मरम्मत न हो पायेगी । अब तो उनको जो होना था, हो गया । तुम लोग अब उनके हाथ और पैर काटकर उन्हें बाहर निकाल लो ।" यह सुनते ही हठयोगी तुरन्त उठ खड़ा हुआ । दवा का असर तब तक दूर हो गया था । वह चिल्लाकर बोला, "अरी कुलच्छिनी ! तू मेरे हाथ-पैर कटवाना चाहती है ?" यह कहकर शिष्य घर-बार छोड़ अपने गुरु के साथ निकल गया ।

●

ध्यान और साधना—१

स्वामी यतीश्वरानन्द

(ब्रह्मलीन श्रीमत् स्वामी यतीश्वरानन्दजी महाराज रामकृष्ण मठ और मिशन के उपाध्यक्ष थे। सन् १९३५ से १९५० तक उन्होंने जर्मनी, फ्रांस, स्विट्झरलैण्ड और सयुक्तराष्ट्र अमेरिका में वेदान्त का प्रचार किया। उनके लेखों में अध्यात्म विद्या को व्यावहारिक जीवन में उतारने की कला होती है। प्रस्तुत प्रवचन मूल अँगरेजी में श्रीरामकृष्ण आश्रम, बँगलौर में १ अप्रैल, १९६० को दिया गया था; वह 'प्रबुद्ध भारत' के मई १९७१ अंक में प्रकाशित हुआ था जहाँ से वह साभार गृहीत हुआ है।–सं०)

हम सबके हृदय में बसनेवाले उस सर्वव्यापक और सर्वानन्दमय परमात्मा को प्रणाम करते हैं। वह अतीत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालों का नियामक है। उसके दर्शन से मनुष्य भय को पार कर जाता है और शान्ति प्राप्त करता है। वह सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है। वही परात्पर सत्ता है। उसी सर्वव्यापी और आनन्दघन परमात्मा से हम सभी उपजे हैं, उसी में रहते हैं और उसी में लीन हो जायेंगे।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

हम थोड़ी देर के लिए चुप बैठें तथा अपने शरीर और मन को ढीला छोड़ दें। उस विभु परमात्मा को अपने प्रणाम अर्पित करें। वह हमारी बुद्धि को प्रेरणा दे। संसार में जितने सन्त-महापुरुष हो गये हैं, जिनके उपदेश हमें वसीयत के तौर पर प्राप्त हुए हैं, उन सभी को अपने प्रणाम निवेदित करें। वे हमारे भीतर सत्य के प्रति प्रेम भर दें। वह परमात्मा समस्त शुचिता का स्रोत है; वह हमारी सारी अपवित्रता नष्ट कर दे। हम अपने भीतर

पावित्र्य के स्पन्दन भर लें, शक्ति के स्पन्दन भर लें। ये स्पन्दन हमारी सारा दुर्बलताएँ नष्ट कर दें। हम अपने भीतर शान्ति के स्पन्दन भर लें और ये स्पन्दन हमारी सारी चंचलता को दूर कर दें। हम अपने समस्त मानव-बन्धुओं के प्रति पूर्व में, पश्चिम में, उत्तर में और दक्षिण में पावित्र्य शक्ति और शान्ति के प्रवाह भेजें। हम अपने आप से शान्ति बनाये रखें, समग्र विश्व से शान्ति बनाये रखें। अब हम साक्षी या द्रष्टा की भूमिका ग्रहण कर लें और अपने मन को समस्त बहिर्मुखी विचारों, ध्वनियों और अन्य संवेदनाओं से खींच लें। भीतर उठनेवाले विचारों, स्मृतियों और भावनाओं से भी हम अपने को विलग कर लें। हम पूरी तरह सजग बने रहें।

हमारा शरीर एक दिव्य मन्दिर है। हम अपनी चेतना को अपने हृदय के गर्भगृह में केन्द्रित करें और वहाँ अनुभव करें कि हमारा आत्मा मानो प्रकाश का एक छोटासा पुंज है। यह छोटासा प्रकाशपुंज उसी सर्वव्यापी ज्योतिर्मय अनन्त आत्मा का अंश है। यह अनन्त आत्मा सूर्य, चन्द्र, तारे और ग्रह सबमें अनुस्यूत है। वह सभी प्राणियों का उद्भासक है। वह हमारी आँखों, कानों और समस्त इन्द्रियों में रमा है। वह हमारे मन और हृदय में उद्भासित है। उसका संस्पर्श हम अनुभव करें। अद्वैतवादी उस परमात्मा का सच्चिदानन्द के रूप से ध्यान करता है। भक्त उसी की विभिन्न भावों से उपासना करता है—पिता के रूप में, माता के रूप में, सखा के रूप में, प्रेमास्पद के रूप में। वही अनन्त आत्मा देवी-देवताओं के रूप में प्रकाशित होता है। फिर वह मानवजाति पर कृपा करने के लिए धरती पर अवतार के रूप में भी प्रकट होता है। हम ध्यान के लिए कोई भी प्रक्रिया चुन सकते हैं, पर ध्यान के समय हम सबको यही अनुभव करना चाहिए कि उपासक और उपास्य दोनों सत्-चित्-आनन्द के

सागर में निमज्जित हो गये हैं। वास्तव में वह अनन्त परमात्मा ही एक ओर भक्त के रूप में प्रकाशित होता है तो दूसरी ओर उपास्य देवता के रूप में। हम अपने हृदय के अन्तरतम प्रदेश में उस दैवी स्पर्श का अनुभव करें। वह दिव्य उपस्थिति हमारी नसों को उद्वेगरहित करे, मन को निश्चल बनाये और हृदय को शान्त करे। वह परमात्मा हमारी बुद्धि को अनुप्राणित करे और हमारी चेतना को तेजस्वी बनाये। कुछ क्षणों के लिए हम अपनी रुचि के अनुसार, चाहे जिस रूप में हो, उस सर्वव्यापी आनन्दघन आत्मा का ध्यान करें। किसी भी प्रकार उस दैवी संस्पर्श का अनुभव करें।

ॐ सहनाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

जब मैं आलोच्य विषय पर विचार कर रहा था, तो मुझे एक कहानी याद आ गयी। दो छोटे बच्चे अपनी अपनी माँ के सम्बन्ध में बढ़ा-चढ़ाकर बता रहे थे। एक ने कहा, 'मेरी माँ किसी भी विषय पर बोल सकती हैं।' इस पर दूसरे ने एक कदम आगे बढ़कर कहा, 'मेरी माँ तो जब कोई विषय भी न हो तब भी बोल सकती हैं !' यह दूसरी स्थिति खतरे की है। मैं कम से कम वह खतरा मोल लेने का साहस नहीं कर सकता। अतएव मैं आपके समक्ष उस साधना की बात रखना चाहूँगा जो सामान्यतः हम लोग करते हैं। वस्तुतः, हमने अपनी ध्यान की प्रक्रिया में जिन बातों का पालन किया है, वही सब आपको समझाने का प्रयत्न करूँगा।

आध्यात्मिक जीवन के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा आवश्यक है

सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि हम आध्यात्मिक आदर्श को स्पष्ट रूप से समझ लें। हममें से जो लोग जीव और आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास करते हैं, परमात्मा के अस्तित्व पर विश्वास करते हैं, वे परमात्मा से अपना योग कर लेना चाहते हैं और उनके माध्यम से समस्त मानवों से युक्त हो जाना चाहते हैं।

जब विद्यार्थी के रूप में हम श्रीरामकृष्ण देव के महान् शिष्यों के समीप गये तो उन्होंने हमारे समक्ष आत्म-साक्षात्कार का आदर्श रखा। आत्म-साक्षात्कार उनकी दृष्टि में कोई संकीर्ण बात नहीं थी। उन्होंने हमें स्पष्ट बताया कि जैसे जैसे हम उस परमात्मा की ओर बढ़ते हैं और उनका अधिकाधिक अनुभव करते हैं, वैसे वैसे हमें उनकी उपस्थिति सबमें मालूम होने लगती है और तब, फलस्वरूप, तुम सबमें विद्यमान उस प्रभु की सेवा करना चाहते हो। पर वह करने से पहले हमें प्रार्थना और उपासना द्वारा आध्यात्मिक पथ का अनुसरण करना चाहिए तथा उस देवता के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट धारणा कर लेनी चाहिए जो हममें, तुममें और सबमें रमा है।

अब चूँकि आदर्श यह है, एक प्रश्न उठता है---हमें किस रास्ते से जाना चाहिए ? तो यहाँ भी उन महा-पुरुषों ने हमारे समक्ष मुक्ति और सेवा का द्विविध आदर्श रखा। कर्म और उपासना को साथ ही साथ

चलना चाहिए। कर्मयोग का भाव लेकर हमें कर्म करने चाहिए। हम तरह तरह के कर्म करते तो हैं, पर यह नहीं जानते कि कर्म कैसे करें, कर्तव्यों का निर्वाह किस प्रकार करें, विभिन्न कर्मों के सम्पादन में किस तरह लगें। सर्वप्रथम, कर्मों को कर्तव्य मानकर करें और उनमें अनासक्ति का भाव लायें। कर्तव्य का पालन हर अवस्था में होना चाहिए और जब इस प्रकार कर्तव्य समझकर कर्म करते करते हम आगे बढ़ते हैं, तो भीतर यह अनुभव होने लगता है कि कर्मों का फल हमें उस परमात्मा के प्रति समर्पित कर देना चाहिए जो सर्वविध क्रियाओं का अधिष्ठाता देवता है। फिर एक समय आता है जब हमारे मन में प्रश्न उठता है––हम कर्म क्यों करें? इसका उत्तर है––विष्णु-प्रीति-कामनया, ईश्वर-प्रीत्यर्थ। और उसके बाद एक समय आ सकता है जब हम उस दैवी उपस्थिति का अनुभव अपनी रग रग में करने लगते हैं। तब हम उस ईश्वरीय शक्ति के प्रवाह का माध्यम बन जाते हैं, जो शक्ति मानवजाति के कल्याण में संलग्न है।

आध्यात्मिक भूख जगाओ

जैसे कर्म उचित भावसहित करना चाहिए, वैसे ही उपासना भी ठीक ढंग से करनी चाहिए। हममें से प्रत्येक को किसी न किसी प्रकार का कर्म करना ही पड़ता है। कर्म अनिवार्य है, पर मुश्किल यह है कि उपासना ऐच्छिक है! हममें से कई लोगों की उपासना,

जप या ध्यान में रुचि नहीं होती, और यही दुःख की बात है। यदि हममें आध्यात्मिक भूख हो तो हम आध्यात्मिक भोजन लेना चाहेंगे। हम शरीर को भोजन देते हैं और शरीर को अच्छा स्वास्थ्यकर भोजन देना भी चाहिए। हम अध्ययन और स्वाध्याय के द्वारा मन को खाद्य देते हैं पर यह देखना चाहिए कि विचार अच्छे हों। उसी प्रकार हमें आत्मा को भी भोजन देना चाहिए। वह कैसे सम्भव हो ?——उपासना, जप और ध्यान के अभ्यास द्वारा।

श्रीरामकृष्ण का एक चुटकुला है। एक छोटा सा बच्चा सोने जा रहा था और उसने माँ से कहा, 'माँ, अगर मुझे भूख लगे तो जगा देना।' उस पर माँ ने उत्तर दिया, 'बेटा ! इसकी जरूरत ही नहीं पड़ेगी। तेरी भूख ही तुझे जगा देगी।' जीव की विकास-प्रक्रिया में ऐसा समय आता है जब हमें आध्यात्मिक भूख लगने लगती है और तब हमें उसी प्रकार का भोजन अवश्य चाहिए। इस सन्दर्भ में श्री माँ शारदा का एक महत्त्वपूर्ण कथन याद आता है। श्रीमाँ ने कहा था, 'रसोई की सामग्री तो तैयार है; जो रसोई जल्दी बना लेता है उसकी भूख जल्दी मिटेगी।' हममें से अनेक आलसी हैं। हम ठीक समय पर रसोई नहीं बनाना चाहते; सम्भव है कि हम बनाना तो चाहें, पर देर करके शाम को बनायें। और हममें से कुछ तो इतने आलसी हैं कि भूखा रहना पसन्द कर लेंगे पर रसोई न बनायेंगे !

स्वाभाविक ही वे दुःखी होते हैं ।

स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने क्या कहा

जब हम शान्त बैठने का प्रयास करते हैं और किसी प्रकार की उपासना या जप या ध्यान करने की कोशिश करने हैं तो प्रारम्भ में कई कठिनाइयाँ आती हैं। स्वामी ब्रह्मानन्दजी हमें यही बतलाया करते थे। मैं यहाँ पर उनके 'Eternal Companion' (चिरन्तन साथी) नामक उपदेश-संग्रह से थोड़ा पढ़कर सुनाता हूँ। वे कहते हैं--"जप और ध्यान का नियमित अभ्यास करो। एक दिन भी यह नियम न टूटे। मन एक बिगड़े बच्चे के समान सदैव चंचल है। उसे इष्ट-देवता पर केन्द्रित करते हुए बारम्बार स्थिर करने की कोशिश करो। देखोगे, अन्त में तुम उनमें डूब जाओगे। यदि तुम दो या तीन वर्ष तक अपना अभ्यास अखण्ड बनाये रखो, तो एक अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करने लगोगे और तुम्हारा मन स्थिर हो जायगा। प्रारम्भ में जप और ध्यान का अभ्यास शुष्क मालूम होता है। वह कड़वी दवा लेने के समान है। तुम्हें जोर करके मन में ईश्वर का चिन्तन उठाना चाहिए। यदि तुम इसमें दृढ़ता पूर्वक लगे रहो तो तुम्हारे भीतर आनन्द की बाढ़ आ जायगी। परीक्षा पास करने के लिए विद्यार्थी कितनी कठोरताएँ सहता है! क्या तुम जानते हो कि ईश्वर का अनुभव करना इसकी अपेक्षा कहीं सरल है? उद्वेगरहित हृदय से, निष्ठापूर्वक उन्हें पुकारो तो सही।"

यह उपदेश जिस शिष्य के प्रति दिया जा रहा था उसने कहा—"महाराज! कभी-कभी ऐसा लगता है कि अपनी सारी कोशिशों के बावजूद मैं तनिक भी आगे नहीं बढ़ पा रहा हूँ। तब यह सब कुछ वृथा मालूम पड़ने लगता है और निराशा मुझे जकड़ लेती है।"

स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने उसे आशा प्रदान करते हुए कहा—"नहीं, नहीं। हताश होने की कोई बात नहीं। ध्यान का फल अवश्यम्भावी है। अगर भक्तिपूर्वक जप करो या यदि जप भक्तिसंयुक्त न भी रहे, तो भी तुम्हें फल तो अवश्य मिलेगा। फिर धीरे-धीरे भक्ति आयेगी भी। साधना का नियमित अभ्यास करो और क्रमशः उसकी अवधि बढ़ाते जाओ। तुम्हें शान्ति मिलेगी। ध्यान करने से स्वास्थ्य भी सुधर जाता है।

"प्रारम्भिक अवस्था में ध्यान करना मानो मन के साथ युद्ध करने के समान है। प्रयत्नपूर्वक चंचल मन को नियंत्रण में लाकर भगवान् के चरणों में रख देना चाहिए। पर शुरू-शुरू में यह सावधानी बरतना कि ध्यान करते समय मस्तिष्क पर अत्यधिक जोर न पड़ जाय। धीरे-धीरे बढ़ो। अभ्यास में क्रमशः तीव्रता लाओ। नियमित अभ्यास के फलस्वरूप जब मन स्थिर हो जाता है तब ध्यान अधिक सहज होता है। तब दीर्घ समय तक ध्यान में बैठे रहने पर भी तुम्हें कोई थकावट न लगेगी।

"गहरी नींद के बाद जैसे मनुष्य देह और मन में ताजगी का अनुभव करता है, वैसे ही ध्यान के पश्चात्

तुम अपने को तरो-ताजा अनुभव करोगे और आनन्द की एक तीव्र अनुभूति तुम्हारे भीतर उमड़ उठेगी।

"शरीर और मन घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। शरीर के अस्वस्थ होने से मन भी अस्वस्थ हो जाता है। अतएव शरीर को स्वस्थ रखने के लिए भोजन के सम्बन्ध में विशेष सावधानी बरतनी चाहिए . . .।

"ध्यान कोई इतनी सरल बात नहीं है। अगर तुमने भोजन बहुत अधिक कर लिया तो मन भी अधिक चंचल हो जाता है। फिर, अगर तुम काम, क्रोध, लोभ और अन्य दुष्प्रवृत्तियों को नियंत्रण में न रखो तो मन अस्थिर ही बना रहेगा। ऐसे अस्थिर मन से तुम ध्यान कैसे कर सकते हो . . . ?

"ध्यान के बिना मन को वश में नहीं लाया जा सकता और जब तक मन नियंत्रण में नहीं है तब तक तुम ध्यान नहीं कर सकते। पर इससे यदि तुम सोचो कि मैं अपने मन को वश में कर लूँ, फिर ध्यान करूँगा, तो तुम आध्यात्मिक जीवन के पथ पर कभी भी कदम नहीं रख सकोगे। मन को स्थिर करना और ध्यान करना ये दोनों बातें तुम्हें एक साथ ही करनी होंगी।

"जब तुम ध्यान में बैठते हो तब मन में उठनेवाली वासनाओं और लालसाओं को स्वप्नमात्र समझो। उन्हें मिथ्या मानो। वे मन से कभी चिपक नहीं सकते। अनुभव करो कि तुम शुद्ध हो। इस प्रकार तुम्हारा मन क्रमशः पवित्रता से भर जायगा . . .।

"यदि तुम ईश्वर का अनुभव करना चाहते हो तो धैर्य और अध्यवसाय पूर्वक साधनाओं का अभ्यास करते रहो। समय आने पर तुम्हारा हृदय ईश्वर-दर्शन की ज्योति से भर जायगा।"

जब साधक परमात्मा के दर्शन कर लेता है तो वह शान्ति प्राप्त करता है और धन्य हो जाता है। वह अपनी इस शान्ति और धन्यता का वितरण दूसरों को भी करता है। स्वामी ब्रह्मानन्दजी हमारे समक्ष यही आदर्श रखते थे और वे उस साधना का भी निर्देश करते थे जिसके द्वारा वह आदर्श जीवन में साकार हो उठे।

प्रारम्भिक सोपान

जैसा बतला चुका हूँ, जब तुम शान्त बैठना चाहते हो तो मन में कई प्रकार की बाधाएँ आती हैं। कभी-कभी जब तुम ध्यान में नहीं बैठे होते, सम्भव है कि अपने भीतर एक प्रकार की शान्ति का अनुभव करो, किन्तु ज्योंही तुम ध्यान में बैठते हो, विशेषकर प्रारम्भ में, मन विक्षुब्ध हो जाता है, शरीर दुखने लगता है और इन्द्रियाँ दंगा-फसाद करने लगती हैं। ऐसा लगता है कि मन में उठनेवाले भयानक विचारों का कभी अन्त न होगा। जप और ध्यान का अभ्यास एक बहुत बड़ा संघर्ष बन जाता है; किन्तु इस संघर्ष का सामना तो करना ही पड़ता है।

सभी धर्मों के अनुभवी सन्त-महापुरुष सर्वप्रथम

सोपान के रूप में हमारे सामने पवित्रता का न्यूनतम आदर्श रखते हैं—शरीर की पवित्रता, इन्द्रियों की पवित्रता, मन की पवित्रता और अहंकार की पवित्रता। सम्भव है कि शरीर किसी रोग से आक्रान्त है। शरीर के विभिन्न अंग-प्रत्यंग एक दूसरे से सहयोग नहीं करते और यथोचित रूप से काम नहीं करते। फिर, हमारी सारी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं और विषय-पदार्थों के संस्पर्श में आना चाहती हैं। हमारा मन कामनाओं, इन्द्रिय-वेगों और अतीत के संस्कारों द्वारा हर लिया जाता है इन सबके अतिरिक्त एक और प्रकार का द्वन्द्व हमारे मन में उठा करता है। हमारा विचार एक ओर जाता है, भावना दूसरी ओर जाती है और इच्छाशक्ति एक तीसरी दिशा पकड़ती है। हमारा अहंकार विकृत हो जाता है। उदाहरणार्थ, छोटासा पानी का बुलबुला अपना बड़ा गुमान करता है। वह दूसरे बुलबुलों को भूल जाता है, यहाँ तक कि वह समुद्र को भी भूल जाता है और स्वयं बढ़ना चाहता है। फल क्या होता है? बुलबुला फूट जाता है। ठीक यही बात हममें से बहुतों के साथ होती है।

इन सब कठिनाइयों को देखकर हमें घबड़ाना नहीं चाहिए। भगवद्‌गीता में हम देखते हैं कि अर्जुन श्रीभगवान् से शिकायत करते हुए कह रहा है—"आप मन के निग्रह की बात करते हैं, आत्म-साक्षात्कार की बात करते हैं, पर मैं तो देखता हूँ कि मन अत्यन्त चंचल है;

मैं उसे वश में नहीं कर सकता ।" श्रीभगवान शिष्य की कठिनाई समझते हैं और अत्यन्त स्नेह एवं सहानुभूति से कहते हैं— "हाँ, तुम ठीक कहते हो, किन्तु उचित साधना का अवलम्बन करने से, वैराग्य और सतत ध्यान का अभ्यास करने से यह दुर्निग्रह मन भी वश में लाया जा सकता है ।" अन्त में साधक उस परमात्मा का संस्पर्श प्राप्त कर धन्य हो जाता है ।

वातावरण की शिकायत मत करो

पहली बात तो यह है कि हम अपनी पारिपार्श्विक अवस्थाओं के सम्बन्ध में, अपने वातावरण के सम्बन्ध में बड़ी शिकायतें करते हैं । वास्तव में हम वातावरण की शिकायत करना छोड़ और कुछ नहीं करना चाहते । मान लो कि हमने परिस्थितियों को बदल दिया, पर शिकायत तो तब भी बनी रहेगी । एक आदर्श वातावरण हमें कहीं नहीं मिल सकता, क्योंकि ऐसी कोई चीज अस्तित्व में है ही नहीं । तुम तर्क देते हुए कहते हो, 'वातावरण अनुकूल नहीं है, फिर मैं कैसे ध्यान का अभ्यास कर सकता हूँ ?' पर देखो, ठीक यहीं तुम्हें ध्यान का अभ्यास करना चाहिए । जब तुम्हें नींद आती है तो क्या अत्यन्त विपरीत परिस्थितियों में भी तुम सोने की कोशिश नहीं करते ? इसी तरह तुम्हें ध्यान के अभ्यास का भी प्रयत्न करना चाहिए, परिस्थितियाँ चाहे जैसी हों । यह अभ्यास कैसे किया जाय ? बाहर की प्रतिकूलताओं से अपने आपको अलग करके, जैसा

कि हम सोने के पहले किया करते हैं। इसका अभ्यास करना पड़ता है। फिर, हमारी भीतर की परेशानियाँ भी हैं। सम्भव है कि शरीर रोगी हो। कई बार हम यह शिकायत सुना करते हैं कि जैसे ही हम ध्यान में बैठते हैं, सिर दुखने लगता है। पर भाई, 'ध्यान अपने आप ही में तो एक सिरदर्द है।' अतएव स्वस्थ होने की चेष्टा करो। तभी तो भगवान् श्रीकृष्ण गीता के ध्यानयोग नामक छठे अध्याय के प्रारम्भ में कहते हैं कि साधक को सबसे पहले नियमित जीवन का अभ्यास करना चाहिए--खान-पान, नींद और क्रीड़ा आदि में वह नियमित रहे। साधक को अतियाँ छोड़ देनी चाहिए और मध्यम पथ का अनुसरण करना चाहिए। इससे उसे आध्यात्मिक पथ पर आगे बढ़ने का अभ्यास करने के लिए सामर्थ्य प्राप्त होती है।

(क्रमशः)

सब के पास जा-जाकर कहो, "उठो, जागो और सोओ मत, सम्पूर्ण अभाव और दुःख नष्ट करने की शक्ति तुम्हीं में है; इस बात पर विश्वास करने ही से वह शक्ति जाग उठेगी।" ... यदि तुम भी सोच सको कि हमारे अन्दर अनन्त शक्ति, अपार ज्ञान, अदम्य उत्साह वर्तमान है, और अपने भीतर की शक्ति को जगा सको तो तुम भी मेरे समान हो जाओगे।

—स्वामी विवेकानन्द

रामचन्द्र दत्त

डा. नरेन्द्र देव वर्मा

कलकत्ता के सिमुलिया मुहल्ले में दत्त महाशय का नया मकान बना हुआ है। दत्त महाशय भौतिक दृष्टि से तो सम्पन्न हैं किन्तु उन्हें मानसिक शान्ति नहीं है। इसका कारण यह है कि कुछ ही दिनों पहले उनकी अतिशय प्रिय पुत्री का देहावसान हो गया है। वे नयी पीढ़ी के युवक हैं न, इसीलिए तर्क की दृष्टि से जीवन की मूलभूत समस्याओं का समाधान पाना चाहते हैं। वे सोचते हैं, "क्या आत्मा देह की मृत्यु के बाद भी जीवित रहती है?" पर उनका तर्क उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर पाता। काली-पूजा की गहरी अँधेरी रात में तारों से भरे आकाश की ओर देखने पर उन्हें एक अवर्णनीय अनुभूति होती है। वे सोचते हैं कि क्या इस समूची इन्द्रधनुषी सृष्टि के अन्तराल में कोई चेतन सत्ता है? कुछ समझ नहीं पाते दत्त महाशय! तभी उन्हें अपने बचपन के दिन याद आते हैं--श्रद्धा और भक्ति से भरे हुए दिन। कहाँ गया उनका भक्ति की धारा से विभोर शैशव? अब तो उन्हें अपने युग की अनास्था का दंश सहना पड़ रहा है। दत्त महाशय फिर सोचते हैं--"क्या ईश्वर हैं? क्या उन्हें देखा जा सकता है?" दत्त महाशय भले ही अब तार्किक और

सन्देहवादी हो गये हों, किन्तु उनके मन में जो कट्टर वैष्णव संस्कार हैं वे भी अपना सिर उठा दिया करते हैं। प्रायः सभी सम्प्रदाय के नेताओं से वे मिल चुके हैं, पर किसी ने उनकी जिज्ञासा को शान्त नही किया है। तभी वे केशवचन्द्र सेन के एक निबन्ध को पढ़ते हैं। यह निबन्ध है दक्षिणेश्वर के पुजारी के विषय में। केशवचन्द्र लिखते हैं कि दक्षिणेश्वर के इस व्यक्ति ने ईश्वर को मात्र देखा ही नहीं है प्रत्युत उनसे बातें भी करता है।

कैसा होगा दक्षिणेश्वर का पुजारी? यह रामकृष्ण-नामधारी व्यक्ति कौन है जिसने ईश्वर के दर्शन किये हैं, उनसे बातें की हैं? दत्त महाशय व्यग्र हो उठते हैं। वे अवश्य इस व्यक्ति से मिलेंगे। १३ नवम्बर, सन् १८७९ को वे अपने चचेरे भाई मनोमोहन मित्र और एक परिचित गोपालचन्द्र मित्र के साथ नाव से दक्षिणेश्वर पहुँचते हैं। रामकृष्ण का कमरा उन्होंने पूछ लिया है पर वहाँ पहुँचकर देखते हैं कि कमरा बन्द है। अब वे अन्दर कैसे जायें? वे गंगा-तट की ओर जाते हैं। वहाँ एक व्यक्ति ने उन्हें बता दिया कि संकोच करने की आवश्यकता नहीं है, वे दरवाजा ठेलकर छोटे पुजारी से मिल सकते हैं। वे अभी अपने कमरे में ही हैं। दत्त महाशय ऐसा ही करते हैं। क्या ये ही छोटे पुजारी हैं? क्या इन्हीं के बारे में केशवचन्द्र सेन ने लिखा है कि इन्होंने

ईश्वर के दर्शन किये हैं, उनसे बातें की हैं? क्या ये ही रामकृष्ण परमहंस हैं?

दक्षिणेश्वर के छोटे पुजारी को प्रणाम नहीं कर सकेंगे दत्त महाशय। वे सम्भ्रान्त जो हैं। क्या वे एक शूद्रा के अन्न-धन से जीवन-यापन करने वाले दरिद्र और निरक्षर पुजारी को प्रणाम कर सकते हैं? नहीं, एक हाथ उठाकर उन्होंने नमस्कार कहा है और उनके समीप बैठ गये हैं। पर अहा! यह कैसा अद्भुत व्यक्ति है! इसकी वाणी में द्युलोक-दुर्लभ कौनसा आकर्षण प्रवाहित हो रहा है? किस नक्षत्र से उतरा है यह छोटा पुजारी? क्या यह सामान्य मनुष्य है? नहीं, नहीं, नहीं। यह तो लोकोत्तर पुरुष है, देवदूत है, पुराण पुरुष है। क्या कहता है दक्षिणेश्वर का यह सन्त—"शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा, आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।...वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्, तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।"—"सुनो! इस धरती के अमृतपुत्रो! सुनो! ओ दिव्यलोक के वासियो, तुम भी सुनो! मैंने उस महान् पुरुष को जान लिया है, तमसा के पार के उस आदित्यवर्ण पुरुष को देख लिया है! सुनो! इसी को जानकर तुम मृत्यु को जीत सकते हो। अन्यथा और कोई उपाय नहीं है।" दत्त महाशय मंत्रमुग्ध होकर इस ईश्वरतनय की बातें सुन रहे हैं। समय बीतता

चला जा रहा है। सन्ध्या हो चली है। काली-मन्दिर में शंख बज रहा है। सान्ध्य आरती की तैयारियाँ हो रही हैं। और दत्त महाशय ? दत्त महाशय तो छोटे पुजारी के चरणों में लोट-पोट हो रहे हैं। जय रामकृष्ण ! तुम्हारी जय हो !!

सूचीभेद्य अन्धकार में प्रकाश की किरण फूट रही है। दत्त महाशय का जीवन युगावतार श्रीरामकृष्ण देव के मंगलमय संस्पर्श से धन्य हो उठा है। अब वे जाग गये हैं, अब नहीं सो सकेंगे वे। प्रति रविवार को दक्षिणेश्वर के सन्त के निकट पहुँच जाते हैं और सारे हफ्ते उनके उपदेशों का चिन्तन करते रहते हैं। पर अभी तक उनके मन से अशान्ति गयी नहीं है। अभी तक उनके मन में सन्देह के बादल घुमड़ते रहते हैं। ऐसा क्यों ? क्या परमहंस देव उन पर कृपा नहीं करेंगे ? एक दिन उनसे कहते हैं, "ठाकुर ! मुझे तो कुछ भी नहीं मिला।" ठाकुर अनमने से बोलते हैं, "मैं भला क्या कर सकता हूँ ? सब हरि की इच्छा है !" दत्त महाशय ठाकुर की उदासीनता से बहुत दुखी हो गये हैं। अत्यन्त आतुर होकर पुनः कहते हैं। ठाकुर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे और भी अधिक उदासीनता दिखाते हुए कहते है, "मैं तो कुछ भी नहीं जानता। मुझे किसी से क्या लेना-देना है। तुम यहाँ आओ चाहे न आओ, तुम्हारी मर्जी।" कितना निष्ठुर उत्तर है ! पर दत्त महाशय

छोड़नेवाले नहीं हैं। ठाकुर के कमरे के उत्तरी बरामदे में आसन जमाकर बैठ गये हैं दत्त महाशय। मन में निरन्तर ठाकुर का नाम उच्चरित हो रहा रहा है। दत्त महाशय भी देखेंगे कि कब तक निःसंग रहेंगे युगावतार--आखिर कब तक ? ठाकुर अधिक देर तक उदासीन नहीं रह सके। वे दत्त महाशय के पास आते हैं। बड़ी आत्मीयता से उनसे बातें करते हैं। उनकी अहैतुकी कृपा से दत्त महाशय का सारा विषाद धुल जाता है।

एक रात सपने में क्या देखते हैं दत्त महाशय--तालाब में उन्होंने स्नान किया है। उनके कपड़े अभी गीले हैं। इतने में श्रीरामकृष्ण प्रकट होते हैं और उन्हें मंत्र प्रदान करते हुए कहते हैं--'प्रतिदिन नहाने के बाद गीले कपड़ों में इस मंत्र का एक सौ आठ बार जप करना।' धन्य हो प्रभु ! तुम्हारी जय हो !

दक्षिणेश्वर के सन्त की कृपा-कौमुदी से जिनका जीवन जगमगा रहा है, उनकी चिरभेदनशील दृष्टि ने जिनकी अनास्था और संशय के अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर दिया है और उनके मंगलमय कटाक्ष ने जिन्हें बता दिया है कि वे युगावतार हैं, वे ही दत्त महाशय श्रीरामकृष्ण-भक्तसमुदाय में रामचन्द्र दत्त के नाम से जाने जाते हैं। उनका जन्म ३० अक्तूबर, सन् १८५१ को कलकत्ता के नारिकेलडाँगा में हुआ था। उनके पिता श्रीयुत नृसिंह प्रसाद दत्त कट्टर वैष्णव थे तथा उनकी

माता तुलसीमणि में दया और परोपकार की भावना कूट-कूटकर भरी थी । रामचन्द्र में माता और पिता के इन गुणों का स्वाभाविक रूप से विकास हुआ था । बचपन से ही रामचन्द्र के मन में श्रीकृष्ण-प्रेम का अंकुर फूटने लगा था । श्रीकृष्ण की पूजा करना उसका सबसे प्रिय खेल था । ढाई वर्ष की अवस्था में ही तुलसीमणि का देहावसान हो गया था, फलतः यह बालक मातृ-स्नेह के अभाव को श्रीकृष्ण की पूजा-अर्चना के द्वारा भरने का प्रयास करता था ।

समय आने पर रामचन्द्र को विद्याभ्यास के लिए भेजा गया । पढ़ने-लिखने में उसकी बड़ी रुचि थी तथा वह बड़ा मेधावी निकला । एण्ट्रेंस की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद उसे आगे पढ़ने की इच्छा हुई, पर तब तक उसके पिता नृसिंहप्रसाद पर दारिद्र्य का प्रकोप हो चला था । पुश्तैनी घर भी कर्ज में डूबा हुआ था । पर मेधावी पुत्र की पढ़ने की इच्छा कुण्ठित नहीं हुई । पिता ने अपने रिश्तेदार के घर पुत्र को रखकर पढ़ने की व्यवस्था कर दी । रामचन्द्र ने कैम्पबेल मेडिकल स्कूल में अपना नाम दाखिल करवा लिया । डाक्टरी की पढ़ाई के बाद ही उन्हें सरकारी नौकरी भी मिल गयी । यहीं उन्हें डा० सी. एच. वुड के निर्देशन में कार्य करने का अवसर मिला । वुड महोदय ने रामचन्द्र की प्रतिभा को पहचान लिया और वे उन्हें रसायनशास्त्र पढ़ाने लगे । इससे रामचन्द्र को अनेक लाभ हुए । एक

तो उनकी आय के अनेक स्रोत खुल गये और दूसरे वे रसायनशास्त्र के एक कुशल शिक्षक के रूप में प्रसिद्ध हो गये। अपने ज्ञान के बल पर उन्होंने आँव की एक अचूक औषधि का निर्माण किया जिससे उन्हें बहुत द्रव्य लाभ हुआ। उनके पास कलकत्ता विश्वविद्यालय के छात्र भी रसायनशास्त्र पढ़ने के लिए आया करते जिससे उन्हें अच्छी आय हो जाती। इस प्रकार बहुविध स्रोतों से उनकी आय लगभग एक हजार रुपये प्रति माह हो गयी। पुश्तैनी मकान तो कर्ज में डूब चुका था। अब रामचन्द्र ने कलकत्ता के सिमुलिया मुहल्ले में एक नया मकान भी बनवा लिया।

वह युग बौद्धिक अशान्ति का युग था तथा रामचन्द्र दत्त भी इसके अपवाद नहीं थे। यद्यपि वे कट्टर वैष्णव आचार-विचार के पक्षपाती थे पर आधुनिक शिक्षा के फलस्वरूप वे सन्देहवादी और नास्तिक भी हो चले थे। रामचन्द्र का विश्वास था कि तर्क के द्वारा ही सत्य को जाना जा सकता है और जो विचार तर्क के द्वारा पुष्ट नहीं होता, वह मिथ्या होता है। वे बड़ी आसानी से लोगों के धार्मिक विश्वासों और मान्यताओं की धज्जियाँ उड़ा दिया करते थे और बातचित में उनका रुख इतना आक्रामक और विध्वंसक होता था कि लोग उनसे बात करने में कतराया करते थे! रामचन्द्र में साहित्यिक प्रतिभा भी थी। उन्होंने अनेक नाटकों की रचना की तथा शौकिया अभिनय भी

किया था ! इतने बौद्धिक और तार्किक होते हुए भी रामचन्द्र वैष्णव आचारों से पराङ्मुख नहीं हो पाते थे। बाह्यत: देखने से यह उनके चरित्र का विलक्षण विरोधाभास प्रतीत होता था किन्तु आन्तरिक दृष्टि से यह उनके बद्धमूल वैष्णव संस्कारों का प्रभाव भी प्रदर्शित करता था। एक बार उनकी पत्नी बहुत बीमार हो गयीं। डाक्टरों ने कहा कि स्वास्थ्य-लाभ के लिए रोगिणी को मांस का शोरबा दिया जाना अत्यावश्यक है। पर रामचन्द्र इस सुझाव से तनिक भी सहमत नहीं हो सके। उन्होंने कहा, "मैं अपनी पत्नी को मरते हुए देख सकता हूँ पर अपने परिवार की परम्परा के प्रतिकूल इस घर में मांस आते नहीं देख सकता।" सौभाग्य से उनकी पत्नी स्वस्थ हो गयीं और रामचन्द्र का वैष्णव-आचार भी सुरक्षित रह गया।

ऐसे संशयालु और सन्दिग्ध मन को लेकर रामचन्द्र ने युगावतार का पहली बार दर्शन किया था। तब उनके मन पर पुत्री-शोक भी छाया हुआ था। श्रीरामकृष्ण ने रामचन्द्र पर कृपा की और उन्हें स्वप्न में गुरु-मंत्र प्रदान किया। दूसरे दिन जब रामचन्द्र ने उन्हें अपने सपने की बात बतायी तब उन्होंने बड़ी प्रसन्नता व्यक्त की। पर उस समय रामचन्द्र को पूरा विश्वास नहीं हो पाया था। वे सोचते थे कि "सपना तो मानसिक कल्पना से उपजता है। मुझे अतिलौकिक सत्ता का प्रत्यक्ष प्रमाण चाहिए।" और, एक दिन, उन्हें प्रमाण मिल गया।

वे चौराहे पर खड़े होकर अपने मित्र को अपनी मानसिक परेशानियों के बारे में बता रहे थे कि इतने में एक लम्बा-तड़ंगा काला आदमी उनके पास आया और बोला, "तुम इतने परेशान क्यों हो रहे हो ? सब-कुछ समय आने पर तो होगा !" इतना कहकर वह अपरिचित व्यक्ति रामचन्द्र के देखते ही देखते आँखों से ओझल हो गया। बाद में जब रामचन्द्र ने इसके सम्बन्ध में ठाकुर को बताया तब उन्होंने कहा कि उसे ऐसे अनेक अनुभव होंगे ।

और रामचन्द्र को अनेकानेक दिव्य अनुभव हुए । उनका जीवन आध्यात्मिकता के प्रकाश से आलोकित हो उठा । उनके चरित्र की आनुषंगिक कमियाँ भी श्रीरामकृष्ण देव की कृपा से दूर होती गयीं । पहले-पहल रामचन्द्र की कंजूसी भक्तों के लिए चर्चा और विनोद का विषय बनी हुई थी । जब कोई भक्त श्रीरामकृष्ण देव को भजन-कीर्तन के लिए अपने घर आमंत्रित करता तो ठाकुर के अन्य निकटस्थ भक्तों को भी निमंत्रित करता । रामचन्द्र अनेक बार ठाकुर के साथ विभिन्न भक्तों के घर गये थे परन्तु उन्होंने स्वयं अपने घर उन्हें निमंत्रित नहीं किया था । शिष्टतावश उन्हें भी ठाकुर और उनके भक्तों को अपने घर कीर्तन के लिए बुलाना पड़ा । ठाकुर ने तुरन्त सहमति दे दी । तब रामचन्द्र ने अधूरे मन से सारा आयोजन सम्पन्न किया । ठाकुर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि

वैशाख की पूर्णिमा को भी ऐसा ही आयोजन होना चाहिए। रामचन्द्र ने बहुत कोशिश की कि कोई अन्य भक्त अपने घर पर वैशाख पूर्णिमा को कीर्तन का आयोजन करे और वे खुद छुटकारा पा जायें, पर कोई सहमत नहीं हुआ। निदान रामचन्द्र को ही इसका आयोजन करना पड़ा। पर वैशाख पूर्णिमा का वह उत्सव रामचन्द्र के जीवन को ही आध्यात्मिकता से भास्वर करने के लिए आया था। श्रीरामकृष्ण के सान्निध्य में सारा वातावरण अत्यन्त पुनीत हो उठा और रामचन्द्र का सारा अन्तस् दिव्यानुभूति से भर गया। वह उपलब्धि की महती वेला थी। रामचन्द्र की कंजूसी उसी समय समाप्त हो गयी। वे श्रीरामकृष्ण देव के लीलासंवरण के उपरान्त भी प्रति वर्ष इस दिन भजन और कीर्तन का भव्य आयोजन करते रहे।

ठाकुर प्रायः कहा करते थे कि वे डाक्टरों और वकीलों के द्वारा दी गयी वस्तुओं को स्वीकार नहीं कर सकते हैं। इसका कारण यह था कि ये लोग अपने व्यवसाय में धनोपार्जन की ओर इतना ध्यान देते हैं कि दुःखी और पीड़ितों की उपेक्षा हो जाती है। यद्यपि रामचन्द्र का पेशा बिलकुल डाक्टरों-जैसा नहीं था, फिर भी वे दवाओं के व्यवसाय के कारण स्वयं को दोषी मानते थे। एक बार उन्होंने ठाकुर से पूछा कि अपने व्यवसाय के दौरान अनजान में किये गये पापों से वे कैसे मुक्त हो सकते हैं, तब ठाकुर ने कहा, "भक्तों की

सेवा करो। यह मेरी ही सेवा होगी।" रामचन्द्र यह सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। वे सोचते थे कि अगर उनके द्वारा उपार्जित धन से ठाकुर की सेवा नहीं हो सकी तो वह निष्प्रयोजन हो जायगा। किन्तु अब ठाकुर ने उन्हें उपाय बता दिया था। वे जीवन भर श्रीरामकृष्ण देव की इस आज्ञा का पालन करते रहे। अन्त-अन्त में तो उन्हें अनेक व्यक्तियों ने ठगा, पर रामचन्द्र की उदारता में कोई कमी नहीं आयी। जो लोग रामचन्द्र से कुछ धन प्राप्त करना चाहते, वे उनकी उपस्थिति में ठाकुर के पास आते और जोरों से उनका नाम लेते हुए उन्हें प्रणाम करते। बाद में वे रामचन्द्र से जो कुछ चाहते, उन्हें मिल जाता। रामचन्द्र कहा करते थे, "जिसने भी ठाकुर का नाम लिया है वह मेरे हृदय के सर्वाधिक समीप है।"

रामचन्द्र श्रीरामकृष्ण देव को साक्षात् ईश्वर समझते थे। उन्हें यह विश्वास हो गया था कि नवद्वीप के चैतन्य महाप्रभु ही इस बार श्रीरामकृष्ण बनकर आये हैं। एक बार जब ठाकुर ने उनसे पूछा कि वे उन्हें किस दृष्टि से देखते हैं, तब रामचन्द्र ने बड़े विश्वास से अपनी धारणा बतायी थी। ठाकुर बोले, "ठीक है, भैरवी ब्राह्मणी भी ऐसा ही कहती थी।" श्रीरामकृष्ण देव को भैरवी ब्राह्मणी ने तंत्र-दीक्षा दी थी तथा वे श्रीरामकृष्ण को चैतन्य का अवतार मानती थीं। भैरवी ब्राह्मणी के अनुरोध पर रानी रासमणि के

जामाता मथुरानाथ विश्वास ने पण्डितों की एक सभा आयोजित की थी जिसमें सभी विद्वानों ने एक स्वर से यह घोषित किया था कि श्रीरामकृष्ण देव अवतार हैं। रामचन्द्र ने अपनी इस मान्यता को प्रसिद्ध नाटककार तथा ठाकुर के अन्यतम गृही-भक्त गिरीशचन्द्र घोष को बताते हुए कहा था, "गिरीश भाई! तुम जानते हो? इस अवतार में चैतन्य, नित्यानन्द और अद्वैत तीनों समाहित हो गये हैं।"

श्रीरामकृष्ण देव रामचन्द्र के जीवन-धन बन गये थे। रामचन्द्र निरन्तर उनका चिन्तन-मनन करते रहते थे। वे श्रीरामकृष्ण के सन्देशों का भाषणों और लेखों के द्वारा प्रचार करते रहते थे। सन् १८८५ में उन्होंने 'तत्त्वसार' के नाम से श्रीरामकृष्ण के उपदेशों की एक पुस्तिका प्रकाशित की। कुछ भक्तों को यह कार्य अच्छा नहीं लगा। एक दिन ठाकुर रामचन्द्र से बोले, "वे लोग कहते हैं कि तुमने कुछ छपाया है? तुमने क्या लिखा है?" रामचन्द्र ने उन्हें बताया कि उनके मूल्यवान उपदेशों का संकलन प्रकाशित हुआ है। तब ठाकुर ने उनसे कहा था, "अब तुम मेरी जीवनी मत छापना। अगर मेरी कोई जीवनी छपी तो इस जीवन का अन्त हो जायगा।" रामचन्द्र ने ठाकुर की इस इच्छा का अक्षरशः पालन किया। इसके उपरान्त ठाकुर के उपदेशों के प्रचार के लिए उन्होंने 'तत्त्वमंजरी' नामक पत्रिका का भी प्रकाशन

आरम्भ किया था ।

परमवैष्णव रामचन्द्र हमेशा अपने घर में ठाकुर का प्रसाद रखा करते थे। वे बिना ठाकुर के प्रसाद को मुँह में लिये कुछ भी नहीं खाते थे। उनका विश्वास था कि श्रीरामकृष्ण का दर्शन या स्पर्श जिन्हें भी मिला है वे मुक्त हो जायेंगे। उनकी यह बात सुनकर एक व्यक्ति ने व्यंग्य करते हुए उनसे कहा, "तब तो जिस किसी सईस या गँवार ने ठाकुर को देखा है वे सभी मुक्त हो गये होंगे ?" यह सुनकर रामचन्द्र अत्यन्त क्रोधित हुए और बोले, "जाओ, जाओ, उस सईस के पैरों की कुछ धूल उठाकर ले आओ। वह तुम-जैसे लाखों आदमियों को तार देगी !"

परवर्ती काल में रामचन्द्र बहुधा अपने घर पर लोगों को भजन-कीर्तन के लिए आमंत्रित किया करते थे। भजन इत्यादि के शोर से पड़ोसी आपत्ति भी करते थे। जब ठाकुर को यह बात मालूम हुई तब उन्होंने कहा था कि वे शहर के बाहर निर्जन में ऐसा स्थान खोजें जहाँ सौ हत्याएँ होने पर भी लोगों को कुछ पता न चले। तब रामचन्द्र ने काँकुड़गाछी में सन् १८८३ में एक उद्यान खरीदा और उसका नाम 'योगोद्यान' रखा। इसी वर्ष २६ दिसम्बर को उन्होंने यहाँ ठाकुर को आमंत्रित किया था। ठाकुर के लीलासंवरण के उपरान्त उनके पवित्र अवशेष का एक

अंश काँकुड़गाछी में भी रखा गया और रामचन्द्र ने उनकी नियमित पूजा प्रारम्भ की। पहले तो वे पूजा-अर्चना का भार भक्तों पर सौंपकर कलकत्ता आ जाते थे और प्रतिदिन काँकुड़गाछी जाकर सारी व्यवस्था देखते थे, पर एक दिन उन्होंने देखा कि ठाकुर को अर्पित किये जानेवाले भोग में चींटियाँ चल रही हैं। यह देख उन्हें अत्यन्त दुख हुआ और वे काँकुड़गाछी में ही रह गये। धीरे-धीरे उन्हें सांसारिक कार्यों से विरति होती जा रही थी। काँकुड़गाछी में पहुँचकर उनके पारिवारिक बन्धन शिथिल हो गये और उनका सारा समय ईश्वर-चिन्तन में व्यतीत होने लगा। वे इतने निःसंग हो गये कि पुत्री की मृत्यु के दुःख को भूल गये। वे कहा करते, "ठाकुर ने ही कन्या को भेजा था और उन्होंने ही उसे वापस बुला लिया। फिर मैं उसके लिए दुःख क्यों करूँ?" रामचन्द्र के भगवत्समर्पित जीवन से अनेक लोग प्रभावित हुए थे। उनके शिष्यों ने ठाकुर के उपदेशों का प्रचार करने के लिए संन्यास धारण किया था।

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में रामचन्द्र मधुमेह से पीड़ित थे। सन् १८९८ में वे अत्यधिक अशक्त हो गये तथा उन्हें चिकित्सा के लिए कलकत्ता लाया गया। पर वे जानते थे कि उनकी यह बीमारी भव-रोग की समाप्ति की सूचक है। वे पुनः काँकुड़गाछी चले गये और १७ जनवरी, १८९९ को उन्होंने अपने

पार्थिव शरीर का त्याग कर दिया ।

रामचन्द्र जीवन-भर श्रीरामकृष्ण देव के उपदेशों का प्रचार करते रहे । रुग्णता की अवस्था में भी वे घूम-घूमकर युगावतार के सम्बन्ध में भाषण दिया करते थे । प्रथम भाषण तो उन्होंने कोन्नगर में तब दिया था जब ठाकुर जीवित थे । उनके लीला-संवरण के उपरान्त वे सार्वजनिक रूप से ठाकुर की महिमा और उनके अवतारत्व का बखान करने लगे थे । श्रीरामकृष्ण देव के अन्य भक्त-शिष्यों को उनका यह कार्य अच्छा नहीं लगता था, फिर भी रामचन्द्र उनके विरोध की परवाह किये बिना श्रीरामकृष्ण देव की कीर्ति का शतमुखी गायन करते रहे । अनवरत श्रम के फलस्वरूप दमा और हृद्‌रोग की व्याधि भी उत्पन्न हो गयी थी । उनके परिजन उनकी चिकित्सा कलकत्ता में कराना चाहते थे, पर वे अन्तिम समय ठाकुर के समीप बिताना चाहते थे, इसलिए वे योगोद्यान चले आये और एक सप्ताह के बाद ही अपनी आँखें मूँद लीं ।

मानस-पीयूष—३

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(गतांक से आगे)

(पं. रामकिंकरजी उपाध्याय भारत के सुप्रसिद्ध रामायणी है। आश्रम के प्रांगण में रामचरितमानस पर उनके कई प्रवचन हो चुके हैं। उन्होंने अपना प्रथम प्रवचन ४ अक्तूबर, १९६६ को दिया था। उसी प्रवचन की तीसरी किस्त हम यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं।—सं.)

रावण की सभा में रावण के सामने अंगद ने प्रतिज्ञा की थी कि यदि तुम्हारी सभा का कोई भी व्यक्ति मेरा पैर हटा दे तो मैं जानकीजी को हार जाऊँगा। इस प्रतिज्ञा के पीछे एक कारण था। हनुमानजी ने रावण को उपदेश दिया था कि तुम भगवान् के चरण अपने हृदय में धारण करो—

राम चरण पंकज उर धरहू।
लंका अचल राजु तुम्ह करहू॥

रावण ने यह सुनकर बड़ी घृणा से उनकी ओर देखा—एक मनुष्य के पैर और मैं उसे अपने हृदय में धारण करूँ! मुझ जगत्-विजेता को यह ऐसा निकृष्ट उपदेश देता है! हनुमानजी चले गये और जब अंगद आये तो उन्होंने जान-बूझकर हनुमानजी के उपदेश की थोड़ीसी व्याख्या कर दी। हनुमानजी सूत्र दे गये थे और अंगदजी व्यास बनकर उसकी

व्याख्या करने लगे। और वह व्याख्या क्या थी? रावण की सभा में जब अंगद पहुँचे तो एक विचित्र दृश्य उपस्थित हो गया--

उठे सभासद कपि कहुँ देखी।

रावण की सभा के सारे सभासद अंगद को देखते ही उठकर खड़े हो गये। वास्तव में वे अंगद के कारण खड़े नहीं हुए थे--उनके मन में तो यह सन्देह हुआ कि वही पुराना बन्दर आया है जिसने लंका को जलाया था। वे बेचारे बन्दर-बन्दर में भेद नहीं कर पाये। नगर में भी यह बात फैल गयी--

आवा कपि लंका जेहिं जारी।

वहीं बन्दर आया है जिसने लंका जलायी थी। वे डर गये कि पहली बार हम लोगों ने उसका अनादर किया था तो उसने हमारा घर फूँक डाला था। इस बार तो उसे नमन ही करो, और सब उठकर खड़े हो गये। रावण क्रोध में भर उठा--

रावण उर भा क्रोध बिसेषी।

सोचने लगा, जिस सभा में आकर वरुण, कुबेर तथा इन्द्र घबरा जायँ, जहाँ पर सूर्य नमन करे, चन्द्रमा प्रणाम करे, शंकर पूजा लेने आयें, उस सभा के लोग एक बन्दर को देखकर खड़े हों! ऐसा अपमान मेरी इस सभा का! अच्छा, अभी तो बन्दर से बातचीत करनी है और जब यह चला जाय तब इन लोगों की खबर लूँगा, बतलाऊँगा कि तुमने मेरा कैसा अनादर कराया है। अंगद

ने सोचा, इसका उपाय भी कर दें। अंगद ने प्रतिज्ञा कर दी--अगर मेरा पैर तुममें से कोई हटा दे तो मैं जानकी जी को हार जाऊँगा तथा भगवान् राम वापस लौट जायेंगे। यह सुनकर लोग उठने लगे पर कोई उनका पैर न हटा पाया। अंगद ने रावण से कहा--तुम खुद तो उठो। जब वह उठा तो अंगद को हँसी आ गयी। अंगद का संकेत था कि उठे तो सभी लोग हैं, कुछ डर के मारे, कुछ शर्म के मारे। अगर वे डर या शर्म के मारे उठे तो रावण, तुम लोभ के मारे उठे। उठे तो तुम भी न। कहाँ रह गया तुम्हारा गर्व? अगर तुम लोभ या भय के मारे न उठकर प्रेम के कारण उठते तो कितनी अच्छी बात होती। पर तुम तो लोभ के कारण उठे कि जानकीजी प्राप्त हो जायेंगी। अंगदजी ने बड़ा व्यंग्य तो तब किया जब रावण उनके पैरों की ओर झुका। उन्होंने कहा--

गहत चरन कह बालि कुमारा।

अंगद का तात्पर्य यह था कि तू बन्दर का पैर तो पकड़ सकता है, पर कहता है कि मनुष्य का पैर नहीं पकड़ूँगा। अहंकारी, वासना का पुतला, मलिन अन्तः-करणयुक्त रावण! तू इतना स्वार्थी और लोभी है कि अपने स्वार्थ में तू बन्दर के पैरों में झुकने-जैसा निम्न कार्य कर सकता है और मिथ्या गर्व करता है कि ईश्वर की ओर नहीं झुकूँगा। ईश्वर के चरणों में ही तो वास्तविक गौरव की अनुभूति है।

इसीलिए भगवान् ने सोचा था कि नारद अगर मेरा बन्दर रहेगा तो मेरे संकेत पर नाचेगा, अन्यथा इसको सुन्दरता दे देने से यह काम का बन्दर हो जायेगा। भगवान् का नारद के प्रति आत्यन्तिक प्रेम था, इसीलिए उनके कल्याण के लिए उन्हें बन्दर का रूप दिया। पर रुद्रगणों की क्या दशा हुई ? उन्हें राक्षस बनने का शाप मिला। नारदजी काम-विजय करके अपनी महानता बताने शंकरजी के पास पहुँचे। शंकरजी तो बड़े दयावान हैं। नारद की बात सुनकर उन्होंने कहा--आपने मुझसे यह सब कहा तो कहा, पर भगवान् को काम-विजय की बात न सुनाइयेगा। रुद्रगणों को लगा--अच्छा, अब ये नारद हमारे स्वामी की बराबरी कर रहे हैं ! स्वामी लोग चाहे जितने उदार हों, पर गण लोग बहुत कम ही उदार हुआ करते हैं। सदा से गणों में स्वामियों से जरा ज्यादा अनुदारता देखी गयी है--यह संसार का स्वभाव है। ये गण पीछे लग गये कि नारदजी ने हमारे स्वामी से होड़ की है तो इनकी दुर्दशा जरूर होगी। जब नारद विश्वमोहिनी के स्वयंवर में पहुँचे तो ये गण भी पहुँचे--उनकी हँसी उड़ाने के लिए। और इसीलिए उन्हें राक्षसत्व का शाप मिला। वे राक्षस क्यों बने ? दूसरे के पतन पर हँसना यही राक्षसत्व है। यह आसुरी वृत्ति है। जो व्यक्ति दूसरे को गिराकर उसके पतन पर प्रसन्न होता है, वह बाहर से देखने में चाहे

जैसा हो, पर उसके अन्त:करण में तो आसुरी वृत्ति आ गयी। नारदजी सभा में बैठे हैं और दोनों रुद्रगण उनके आजू-बाजू बैठे उनकी हँसी उड़ा रहे हैं। नारद-जी बेचारे सुनकर भी अनसुनी कर रहे हैं, क्योंकि उनका सारा ध्यान विश्वमोहिनी की ओर केन्द्रित है। विश्वमोहिनी हाथ में जयमाला लेकर आती है और घूमने लगती है। नारद व्याकुल हो उठते हैं——

पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं।

व्यग्र हो उठते हैं कि विश्वमोहिनी उनकी ओर नहीं आ रही है। पर उधर आने की तो बात क्या——

जेहि दिसि बैठे नारद फूली।
सो दिसि तेहिं न बिलोकी भूली ॥

जिस दिशा में नारद फूले बैठे हुए थे, विश्व-मोहिनी ने उधर भूल करके भी नहीं देखा। यह नारद का अपमान हुआ या सम्मान? बाहर से देखिये तो अपमान और भीतर से देखिये तो सम्मान। सबसे बड़ा सम्मान। जिन तीन दिशाओं में विश्व-मोहिनी जा रही थी, उधर बैठे हुए लोगों को क्या लाभ हुआ? विश्वमोहिनी तो उनमें से किसी को मिलने-वाली नहीं थी। भगवान् की माया तो केवल भगवान् की ही रहेगी——किसी राजा को नहीं मिलेगी। जब वह तीन दिशाओं में जाती तो लोग बार बार आशा और निराशा के चक्कर में पड़ते। सामने आती तो आशा बँधती, शायद वरण कर ले। पर जब चली

जाती तो निराशा हाथ लगती। पर इस दिशा वाले सबसे अच्छे थे कि वे पूरी तरह निराश हो गये थे, क्योंकि उधर तो वह आनेवाली थी ही नहीं। इसके द्वारा भगवान् मानो कहते हैं कि जब मैं किसी पर कृपा करता हूँ, अपने भक्त को अपनाता हूँ तो मेरा भक्त जिस दिशा में बैठ जाय, वहाँ माया नहीं आती। यह नारद के लिए सबसे बड़े गर्व की बात थी कि भगवान् ने नारद की महिमा बढ़ायी। पर रुद्रगण इस सत्य को नहीं समझ पाते हैं। भगवान् जब विश्वमोहिनी का वरण कर चले जाते हैं, तब दोनों रुद्रगण नारदजी से तुरन्त कह देते हैं--

निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई।

जाकर अपना मुँह शीशे में तो देखो। नारद शीशा कहाँ खोजें। उन्होंने सरोवर देखा। उसमें मुँह देखने लगे। गोसाईंजी के ग्रन्थ में यह बड़ी सांकेतिक कथा है कि उन्होंने शीशे में मुख नहीं देखा, सरोवर में देखा। शीशे और सरोवर में अन्तर है। मुँह तो दोनों में ही दिखायी देता है, पर अन्तर यह है कि शीशा स्थिर है और जल चंचल है। स्थिर शीशे में मुख ठीक दिखायी देगा, पर चंचल जल में आकृति ठीक दिखायी नहीं देगी। इसका अभिप्राय यह है कि नारदजी ने स्थिर मन से आत्मनिरीक्षण न कर चंचल मन से निरीक्षण किया। गोस्वामीजी कहते हैं--

बदन दीख मनि बारि निहारी।

उन्होंने शीशे में मुख नहीं देखा। उन्होंने देखा जल में। चंचल मन से देखा, इसलिए सबसे पहले रुद्रगणों को श्राप दे दिया कि दूसरों को शीशा दिखलाते फिरते हो, स्वयं तो शीशा देखते नहीं——जाओ, राक्षस हो जाओ। वे हो गये राक्षस——रावण और कुम्भकर्ण। रावण और कुम्भकर्ण बनकर भी उनका यही काम था——दूसरों को शीशा दिखलाना, स्वयं कभी न देखना। जब गण रावण बन गया, तब शंकरजी हनुमान के वेश में उसकी सभा में पहुँच गये। चलें, जरा चेले से मिल आयें। भेंट अटपटी होगी, पर मिलना तो पड़ेगा ही। सोने के सिंहासन पर शिष्य विराजमान था रावण के रूप में, और सभा में गुरुदेव खड़े हैं हनुमान के रूप में। हनुमानजी जान-बूझकर गये थे। बिना कहे दर्पण बनकर गये थे रावण के पास। दर्पण बनकर जाने का तात्पर्य क्या? रावण ने देखा——हनुमानजी चारों ओर नागपाश से बँधे हुए हैं तथा कैदी के रूप में उसके सामने खड़े हैं। रावण ने मन में थोड़ा सोचा, जैसी मैंने आशा की थी कि बन्दर मेरी सभा में आकर भयभीत हो जायेगा, यह उतना डरा प्रतीत नहीं होता। फिर वह हँसा कि मेरी वाटिका का फल चुरानेवाला चोर आखिरकार पकड़ा गया और कैदी के रूप में खड़ा है। रावण ने मेघनाथ से कहा था——उसे मार मत डालना, बाँधकर सभा में लाना। रावण की हँसी सुनकर हनुमानजी को थोड़ी दया आ गयी। सोचने लगे, देखो

तो, यह अब भी नहीं देख पा रहा है। रावण पूछता है कि बन्दर, तुमने मेरी वाटिका का फल बिना पूछे क्यों खाया ? इसीलिए तो तुम्हें कैद करके लाया गया है। हनुमानजी मुस्कुराने लगे। उनकी मुस्कुराहट में व्यंग्य था कि रावण, अगर तुम दर्पण देखते तो समझ जाते कि यह जो मेरा रूप है, वह तुम्हारे लिए दर्पण है। उसमें तुम अपना स्वरूप देख सकते हो। यह मैं बँधा हुआ नहीं हूँ, बँधे हुए तो तुम हो। तात्पर्य यह है कि अगर बिना पूछे फल खाने से चोरी के अपराध में इस प्रकार बँधना पड़ता है तो जो जगज्जननी को चुराकर ले आये उसे कैसा बँधना पड़ेगा इसकी तुम कल्पना कर लो। यदि तुम मुझे देखकर सोच पाते कि चोरी का फल यह होता है, तो मुझे प्रसन्नता होती। पर यह तुम्हारा दुर्भाग्य है कि तुम मुझे चोर के रूप में खड़े देख रहे हो, पर तुम्हें यह नहीं दिखायी दे रहा है कि सिंहासन में बैठे तुम क्या हो। रावण पूछता है--तुमने मेरी वाटिका का फल क्यों खाया ? हनुमानजी हँसे कि यह भी कोई प्रश्न है कि क्यों खाया ? मनुष्य खाता इसीलिए है कि भूख लगती है--

खायउँ फल प्रभु लागी भूँखा।

उन्होंने कहा, भूख लगी इसलिए खाया। याद रखिये, भूख के कारण ही खाया जाता है और जो व्यक्ति दम्भ करता है कि केवल प्रसन्नता के लिए खाते हैं वह दिखावा करता है। वह सत्य नहीं कहता। हनुमानजी जब लंका

में प्रविष्ट हो रहे थे, तब लंकिनी ने उन्हें पकड़ लिया। कहा——बन्दर, कहाँ जाता है? मैं तुझे खाऊँगी। हनुमानजी ने पूछा——क्यों खाओगो? भूखी हो क्या? लंकिनी बिगड़ गयी; बोली——क्या तू समझता है कि लंका-जैसे समृद्ध नगर में मुझे खाने को नहीं मिलता, जो मैं भूखी रहूँगी? हनुमानजी ने कहा——जब तुम खाना चाहती हो तब हमें तो यही लगता है कि तुम भूखी होगी। लंकिनी ने कहा——मैं भूख के कारण नहीं खाती, वरन् यह तो मेरा सिद्धान्त है। हनुमानजी ने पूछा——तुम्हारा सिद्धान्त क्या है? गोस्वामीजी लिखते हैं——

मसक समान रूप कपि धरी।
लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी॥
नाम लंकिनी एक निसिचरी।
सो कह चलेसि मोहि निंदरी॥
जानेहि नहीं मरमु सठ मोरा।
मोर अहार जहाँ लगि चोरा॥

उसने कहा——अरे मूर्ख, क्या तू मेरा मर्म नहीं जानता है? मैंने सिद्धान्त बनाया है। मेरे जीवन का एक उद्देश्य, एक आदर्श है कि मैं चोरों को खाती हूँ। मैंने एक व्रत लिया है कि मैं इस संसार से चोरों को मिटाऊँगी। और तू चोर है, इसलिए मैं तुझे खाना चाहती हूँ, भूख के कारण नहीं। अगर लंकिनी ने कहा होता कि वह भूख के कारण खाना चाहती है तो शायद हनुमानजी उसको मनाते कि अभी छोड़ दो, बाद में खा लेना। पर जब

उसने यह कहा कि मैं सिद्धान्त के कारण खाती हूँ, तो हनुमानजी ने उसके सिद्धान्त की रक्षा तुरन्त कर दी ।

मुठिका एक महा कपि हनी ।
रुधिर बमत धरनीं ढनमनी ।।

हनुमानजी ने एक मुक्का जमाया । लंकिनी मुँह के बल गिर पड़ी । और विचित्र बात तो यह है कि मुक्का खाकर लंकिनी उठकर खड़ी हो गयी और कहने लगी--

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख, धरिअ तुला इक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग ।।

स्वर्ग और मोक्ष के सब सुखों को अगर तराजू के एक पलड़े में रखा जाय, तो भी वे सब मिलकर उस सुख के बराबर नहीं हो सकते जो क्षणमात्र के सत्संग से होता है । वह मक्का खाकर सत्संग की महिमा गाने लगी । मुक्का क्या सत्संग है ? सत्संग का अर्थ है--गीता, भागवत, कथा आदि । यह कौनसा सत्संग है ? पर लंकिनी ने सत्संग का मर्म समझ लिया । जब लंकिनी ने कहा कि मैं चोरों को खाती हूँ, तब हनुमानजी ने उस पर प्रहार किया । इसका अभिप्राय यह था कि तू कितना झूठ बोलती है । यदि तू चोर को खानेवाली होती तो सबसे पहले इस लंका के स्वामी रावण को खाती, जो जानकीजी को चुराकर ले आया है । और मैं जो चोरी का पता लगाने आया हूँ, उसे तू खाना चाहती है ! चोर की तू सेविका है । तेरे ऐसे अविवेक पर मैं प्रहार किये बिना नहीं रह सकता ।

अतः जब रावण ने हनुमानजी से पूछा कि फल क्यों

खाया, तो हनुमानजी ने कहा——भूख लगी इसलिए खा लिया। रावण ने पूछा——खाया तो खाया, पर मेरी वाटिका क्यों उजाड़ी ? हनुमानजी ने कहा, इसका भी कारण है——

खायउँ फल प्रभु लागी भूँखा।
कपि सुभाव तें तोरेउँ रूखा॥

बन्दर का स्वभाव होने के कारण तुम्हारी वाटिका को उजाड डाला। पर यह भी कोई उत्तर है ? अदालत में जाकर कोई कहे कि मेरी आदत है आग लगाने की, चोरी करने की, इसलिए आग लगायी अथवा चोरी की, तो क्या अदालत उसे छोड़ देगी ? पर हनुमानजी तो यही उत्तर देते हैं कि मेरा स्वभाव ही ऐसा है। उनका यह व्यंग्य बड़ा गहरा था। शूर्पणखा ने आकर रावण को समाचार दिया था कि चौदह हजार राक्षसों को अकेले राम ने मार डाला। तब रावण को लगा——

खर दूषन मोहि सम बलवन्ता।
तिन्हहि को मारइ बिनु भगवन्ता॥

अवश्य भगवान् का अवतार हो गया, अन्यथा मेरे समान बलशाली खर और दूषण को उनके अतिरिक्त और कौन मार सकता है ? और तब एक क्षण के लिए रावण का विवेक जागृत हुआ। विवेक ने रावण से कहा——रावण, ईश्वर का अवतार हो गया। अब तो भजन करो। छोड़ो इस पाप को। रावण ने तुरन्त इस विवेक को उत्तर दिया——

होइहि भजनु न तामस देहा।

हाँ, जान तो गये कि भगवान् का अवतार हो गया, पर अपने इस तामसी शरीर से तो भजन नहीं हो सकता। हनुमानजी का व्यंग्य था कि जब आप-जैसा वेदों का पंडित, पुलस्त्य-कुल का नाती अगर अपने स्वभाव को नहीं जीत सकता तो मेरे-जैसा बन्दर कैसे अपने स्वभाव को जीत सकता है ? आप अपने स्वभाव से इतने लाचार हैं कि आप भजन नहीं कर सकते और आप बन्दर से ऐसी अपेक्षा रखते हैं कि वह अपने स्वभाव को बदल दे। दूसरे के स्वभाव को बदलने के पहले, भलेमानुस, जरा अपने स्वभाव को तो देखो। दूसरे पर चोरी का इल्जाम लगाने के पहले अपनी चोरी पर तो दृष्टि डालो। पर रावण तो दूसरे को दर्पण दिखलाने का आदी है न। वह बहुत बिगड़ा और क्रोध में बोला-- तू जानता नहीं मैं कितना बड़ा ज्योतिषी हूँ ? तू किसको उपदेश दे रहा है ? देख, तेरे पास कौन खड़ा है ?--

मृत्यु निकट आई खल तोही।

मृत्यु तेरे निकट खड़ी है ! हनुमानजी ने पलटकर देखा-- सचमुच रावण ने ठीक ही कहा था। मृत्यु खड़ी थी। हनुमानजी हँसे और रावण से बोले--रावण, क्या बताऊँ, तुम्हारी आँखें बड़ी पैनी हैं। मृत्यु को आज तक कोई नहीं देख पाया, पर तुमने देख लिया। लेकिन तुम्हारा दुर्भाग्य यह है कि तुम यह न समझ सके कि यह किसे खाने के लिए खड़ी है। तुम समझ बैठे हो कि जब मरेगा तो दूसरा मरेगा, मैं नहीं मरूँगा। यही दूसरे को दर्पण

दिखलाना है। अगर मृत्यु अवश्यम्भावी है तो दूसरे को मृत्यु का डर दिखलाने के पहले व्यक्ति स्वयं विचार कर देखे कि स्वयं उसके लिए मृत्यु बनी है अथवा नहीं। हनुमानजी देखते हैं कि रावण हर वस्तु को जानता है, पर वह दूसरे के लिए जानता है, अपने लिए नहीं। हनुमानजी ने यह भी देखा कि मृत्यु खड़ी है, रावण को खाने के लिए और मानो हनुमानजी से पूछ रही है कि अभी खा जाऊँ अथवा थोड़ा रुक करके। वह तो केवल आज्ञा की प्रतीक्षा में है कि इनकी आज्ञा मिले और वह रावण का नाश करे। रावण का सदा से यही दुर्भाग्य रहा कि उसने सारे सत्यों को तो जाना, पर अपने लिए नहीं; वह दर्पण तो था, पर अपने देखने के लिए नहीं, दूसरों को दिखाने के लिए।

(क्रमशः)

*

हमारे जातीय शोणित में एक प्रकार के भयानक रोग का बीज समा रहा है, और वह है प्रत्येक विषय को हँसकर उड़ा देना--गाम्भीर्य का अभाव। इस दोष का सम्पूर्ण रूप से त्याग करो। वीर होओ, श्रद्धासम्पन्न होओ, दूसरी बातें उनके पीछे आप ही आयेंगी--उन्हें उनका अनुसरण करना ही होगा।

—स्वामी विवेकानन्द

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

ब्रह्मचारी देवेन्द्र

(गतांक से आगे)

और भी अनेक पत्रों में स्वामीजी ने अपने छोटे-मोटे कार्यों और जरूरतों का उल्लेख किया है । इन पत्रों में न केवल उनके अपने कार्यों की ही बात है, वरन् हेल भगिनियों के प्रति अपरिमित स्नेह, मधुर उल्लास, हास-परिहास तथा व्यंग्य-विनोद भी पर्याप्त मात्रा में परिलक्षित होता है । किसी में मीठी झिड़की है तो किसी में उज्ज्वल हास का पुट । किसी में सख्य-विनोद है तो किसी में गुरुगरिमा से युक्त उपदेश ।

२६ जुलाई, १८९४ को उन्होंने उन्हें लिखा—

प्यारी बच्चियो,

कृपया मेरे पत्रों को अपने चक्र से बाहर न जाने देना । बहन मेरी का मुझे एक सुन्दर पत्र प्राप्त हुआ था । देखती जाओ । मैं कैसी छलाँगें लगा रहा हूँ । बहन जेनी मुझे यह सब सिखा रही है । वह एक शैतान की तरह कूद, दौड़ और खेल सकती है तथा कसमें खा सकती है तथा एक मिनट में ५०० की रफ्तार से ग्राम्य शब्दों का प्रयोग कर सकती है । केवल धर्म के विषय में जरा अधिक चिन्ता नहीं कर पाती ।... मछली की तरह मैंने समुद्र में गोते लगाये । मैं इसका पूरी तरह से आनन्द ले रहा हूँ । हैरियेट ने मुझे क्या मूर्खतापूर्ण गाना 'इन्स

लॉ प्लेनी' सिखाया ! शैतान की खाला ! मैंने इसको एक फ्रांसीसी विद्वान् को सुनाया और मेरे अद्भुत अनुवाद को सुनकर उसका हँसते हँसते मानो पेट फटने लगा। मुझे फ्रेंच पढ़ाने का क्या यही तरीका है ? तुम सब मूर्खों और गँवारों की झुण्ड हो, मैं सच कहता हूँ। तुम सब रस्सी में फँसी मछली की भाँति साँस लेने के लिए तड़फड़ा रही हो। मैं खुश हूँ तुम्हारी इस तड़फड़ाहट को सुनकर। ओहो ! यहाँ कितनी अच्छी ठंडक है, और यह और सौगुनी बढ़ जाती है जब मुझे चार स्त्रियों के दम घुटने, तड़फड़ाने, खौलने और भुने जाने का ख्याल हो आता है, और मैं यहाँ कितना बढ़िया ठंडे में हूँ। हू हू ... !

"न्यूयार्क प्रदेश में कहीं पर कुमारी फिलिप्स के पास एक बहुत सुन्दर स्थान है—पहाड़, झील, नदी, जंगल, सब कुछ। और चाहिए ही क्या ? मैं वहाँ हिमालय बनाने जा रहा हूँ और वहाँ एक मठ की स्थापना उतनी ही निश्चित है जितना मेरा अपना जीना। लड़ते-झगड़ते, गुर्राते, आपस में रेलमपेल मचाते इस अमरीकी धर्म के भँवर में एक और झगड़े की जड़ छोड़े बिना मैं इस देश को त्यागने वाला नहीं हूँ। अच्छा मेरी प्रिय पुरानी मित्रो ! तुम लोग कभी कभी एक झील की कल्पना कर लिया करो तथा प्रत्येक गरम दुपहरी में उस झील की तलहटी में जाने की सोचा करो, इतना नीचे कि जब तक अच्छी ठंडक न मिल जाय; और

फिर चारों ओर व्याप्त शीतलता के बीच शान्ति के साथ लेटने की तथा ऊँघने की सोचो, सोने की नहीं वरन् अर्धस्वप्नावस्था के उस तन्द्रिल अचेतन आनन्द की, जो प्रायः अफीम द्वारा प्राप्त आनन्द के जैसा होता है। और ऐसे में ढेरसा शीतल बर्फ-जल पीना तो और भी आनन्ददायक है। ईश्वर मेरा कल्याण करे। कई बार तो ऐसी ठंड थी कि शरीर में ऐंठन उत्पन्न हो जाती। वह तो हाथी को भी मौत ला सकती थी। इसलिए मैं अपने को ऐसे ठंडे जल से बचाने की कोशिश करता हूँ।

"भगवान् तुम चारों युवतियों को सुख दे, विवेकानन्द की यही सतत प्रार्थना है।"–– विवेकानन्द

प्रेम के विमल उच्छ्वासों से भरा निम्न पत्र उन्होंने कुमारी मेरी और हैरियेट हेल को दिनांक २६ जून, १८९४ को लिखा था––

प्रिय बहनो,

हिन्दी के महान् कवि तुलसीदास ने अपनी रामायण के स्वस्तिवाचन में लिखा है––

बन्दौं सन्त असन्तन चरना।
दुखप्रद उभय बीच कछु बरना।।
बिछुरत एक प्राण हर लेई।
मिलत एक दारुण दुख देई।।

––मैं साधु-असाधु दोनों का ही चरणवन्दन करता हूँ। पर हाय, मेरे लिए दोनों ही समान रूप से दुख

देने वाले हैं। असाधु पास आते ही दारुण दुख देते हैं और साधु व्यक्ति जब मुझे छोड़कर जाते हैं, तब अपने साथ मेरे प्राणों को भी हर ले जाते हैं।

"मेरे लिए ठीक ऐसा ही है। मेरे लिए इस संसार में अगर कोई आनन्द और प्रेम बाकी है, तो वह है भगवान् के प्रिय पवित्र जनों से प्रेम करना। उनका विरह मेरे लिए मृत्यु के समान वेदनादायक है। पर यह तो सब होना ही है। हे मेरे प्रियतम की मधुर वंशी! तुम बजती रहो, मैं तुम्हारा ही अनुसरण कर रहा हूँ। हे श्रेष्ठ, मधुरप्रकृति, सहृदय पवित्र आत्माओ! तुमसे विमुक्त होकर मुझे जो कष्ट हो रहा है, यातनाएँ मिल रही हैं, वह व्यक्त करना मेरे लिए असम्भव है। काश, मैं स्टोइक (Stoic) दार्शनिकों की भाँति सुख-दुख में निर्विकार रह पाता!

"आशा है तुम लोग सुन्दर ग्रामीण दृश्यों का आनन्द ले रही होगी।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

——समस्त प्राणियों के लिए जो रात है, संयमी पुरुष उसमें जागते रहते हैं; और जब सारे प्राणी जागते रहते हैं, आत्मज्ञानी पुरुष के लिए वह रात्रि-स्वरूप है।

"इस संसार की धूल तक भी तुम्हारा स्पर्श न कर सके; क्योंकि कवियों की उक्ति है कि यह जगत् मानो

फूलमालाओं से ढका हुआ सड़ा मुर्दा है। हो सके तो इसका स्पर्श तक मत करना। आओ, होमा पक्षी की बच्चियो, इसके पहले कि तुम्हारे पैर विकारों के मल-कुंड रूपी इस संसार का स्पर्श करें, आकाश में उड़ जाओ।

"ओ, जो जाग गये हो, फिर से सो मत जाना।

"संसार भले ही अपने अनेकों से प्यार करे, पर हमारे तो प्रेमास्पद केवल एक ही हैं और वे हैं हमारे प्रभु। हमें इसकी परवाह नहीं कि लोग क्या कहते हैं; हमें भय केवल तभी होता है जब वे हमारे प्रेमास्पद को चित्रित करने का प्रयास करते हैं तथा उन्हें विभिन्न विकृत विशेषणों से विशिष्ट करना चाहते हैं। वे चाहे जो मर्जी हो, करें। हमारे लिए तो वे केवल प्रेमास्पद हैं——मेरे प्रियतम, प्रियतम, प्रियतम; इसके सिवाय और कुछ नहीं।

"किसे परवाह है यह जानने की कि उनमें कितनी शक्ति और कितने गुण हैं, यहाँ तक कि उनमें भलाई करने का कितना सामर्थ्य है? हम हमेशा के लिए कह देना चाहते हैं कि हम उनसे धन की आशा से प्रेम नहीं करते। हम अपने प्रेम को बेचते नहीं। हम कुछ चाहते नहीं, केवल देते हैं।

"हे दार्शनिक! तुम हमसे उनके स्वरूप की, उनके ऐश्वर्य और गुण की बात कहने आये हो? अरे मूर्ख! हमारे प्राण तो उनके अधरों के मात्र एक चुम्बन के

लिए तड़प रहे हैं। अपनी इन व्यर्थ की वस्तुओं को बाँधकर अपने घर ले जाओ और मेरे लिए मेरे प्रियतम का एक चुम्बन भेज दो। क्या तुम यह कर सकते हो?

"मूर्ख! किसके सामने तुम भय और आतंक से अपने लड़खड़ाते घुटने टेक रहे हो? मैं अपने गले के हार को जंजीर की तरह उनके गले में डालकर, उसमें एक रस्सी बाँधकर उन्हें अपने साथ घसीटकर ले जा रहा हूँ, इस डर से कि कहीं क्षण मात्र के लिए भी वे मुझे छोड़कर कहीं और न चले जायँ। वह हार प्रेम का हार है और रस्सी है प्रेमोल्लास की रस्सी। मूर्ख! क्या तुम इस रहस्य को नहीं जानते कि वह असीम तत्त्व प्रेम के बन्धन में बँधकर मेरी मुट्ठी में आ जाता है? क्या तुम नहीं जानते कि वे अखिल ब्रह्माण्ड के स्वामी प्रेम के गुलाम हैं? क्या तुम नहीं जानते कि इस विशाल विश्व के संचालक वृन्दावन की गोपियों की नूपुर ध्वनि के साथ साथ नाचते फिरते थे?

"उन्मत्त की तरह यह जो कुछ लिख रहा हूँ, उसके लिए क्षमा करना। अव्यक्त को व्यक्त करने के व्यर्थ प्रयास रूप मेरी इस धृष्टता को माफ करना—यह मात्र हृदय में अनुभव की वस्तु है। सदा मेरा शुभाशीर्वाद जानना।"

तुम्हारा भाई
—विवेकानन्द

हेल बहनों को इस क्षणभंगुर संसार की असारता

दर्शाते हुए, वैराग्य के दृढ़ कवच को धारण कर एकमात्र प्रभु को ही अपना मानकर इस संसार के रंगक्षेत्र में वीरता के साथ जूझने की प्रेरणा देते हुए स्वामीजी ने ३१ जुलाई, १८९४ को लिखा था--

"...'हे माधव ! लोग तुम्हें बहुत कुछ भेंट करते हैं। पर मैं गरीब हूँ, मेरा और कुछ भी नहीं है--केवल यह शरीर, मन और आत्मा है; और यह सब तो तुम्हारे पादपद्मों में समर्पित करता हूँ। हे जगद्ब्रह्माण्ड के अधीश्वर ! तुम इन्हें अंगीकार कर लो, अस्वीकार न करो।' इस प्रकार मैं अपना सब कुछ चिरकाल के लिए समर्पित कर चुका हूँ। एक बात और, यहाँ के लोग कुछ शुष्क प्रकृति के हैं। सारे जगत् में ऐसे लोगों की संख्या बहुत ही कम है जो नीरस न हों। वे लोग 'माधव' की--प्रियतम की रसस्वरूपता को कतई नहीं जानते। या तो वे ज्ञान की खिचड़ी पकाते हैं अथवा झाड़-फूँक से बीमारी दूर करना, टेबल पर भूत उतारना, डाकिनी विद्या आदि के पीछे दौड़ते फिरते हैं। इस देश में 'प्रेम, तेजस्विता, स्वाधीनता' आदि की जितनी बातें सुनायी देती हैं, उतनी मुझे अन्यत्र कहीं सुनायी नहीं दीं, परन्तु इन विषयों की जितनी कम धारणा यहाँ के लोगों में है उतनी और कहीं नहीं। यहाँ के लोगों के लिए ईश्वर या तो भय का प्रतीक है या ये लोग ईश्वर को रोग दूर करनेवाली शक्ति अथवा किसी प्रकार के स्पन्दनादि के रूप में मानते हैं। प्रभु

उनका मंगल करें! और ये लोग दिन-रात तोते की तरह 'प्रेम' 'प्रेम' 'प्रेम' की रट लगा रहे हैं !

"अब मैं तुम लोगों के समक्ष सत्कल्पना और शुभ चिन्तन की कुछ बातें रखता हूँ। तुम लोग पवित्र-स्वभाव तथा उन्नतमना हो। इन लोगों की तरह तुम चैतन्य को जड़ की सतह पर न खींचकर, जड़ को चैतन्य में परिणत करो। कम से कम प्रतिदिन एक बार उस चैतन्य राज्य की अनन्त सुन्दरता, शान्ति और पवित्रता की झलक मात्र प्राप्त करने तथा अहर्निश उस आध्यात्मिक भूमि में निवास करने का प्रयास करती रहो। किसी विलक्षण वस्तु को पाने की कभी चेष्टा न करो। पाँव की अँगुलियों से भी ऐसी वस्तुओं का स्पर्श न करो। तुम्हारी आत्मा सदैव हृदय के सिंहासन पर आसीन उस प्रियतम के पादपद्मों में अविच्छिन्न तैलधारावत् लगी रहे। उसके सिवाय देह आदि की ओर तुम्हारा ध्यान न जाय।

"जीवन क्षणस्थायी है, एक क्षणिक स्वप्न। यौवन और सौन्दर्य नश्वर है। दिन-रात यही जपती रहो—'तुम्हीं मेरे पिता, माता, पति, प्रिय, प्रभु तथा ईश्वर हो—मैं तुम्हारे सिवाय और कुछ नहीं चाहती हूँ, कुछ भी नहीं। तुम मुझमें हो, मैं तुममें हूँ—तुममें और मुझमें कोई अन्तर नहीं।' धन नष्ट हो जाता है, सौन्दर्य विलीन हो जाता है, जीवन तेजी से समाप्त हो जाता है तथा शक्ति लुप्त हो जाती है; किन्तु प्रभु चिरकाल

विद्यमान रहते हैं, प्रेम निरन्तर बना रहता है। यदि इस देहयन्त्र को बनाये रखने में किसी प्रकार का गौरव माना जाय, तो दैहिक कष्टों से आत्मा को पृथक् रखना उससे कहीं अधिक गौरव की बात है। जड़ के साथ क़िसी प्रकार का सम्पर्क न रखना ही इसका एकमात्र प्रमाण है कि तुम जड़ नहीं हो।

"ईश्वर का दामन पकड़े रहो, देह में या अन्यत्र क्या हो रहा है, उस ओर ध्यान देने की क्या आवश्यकता? दुख की विभीषिका में यही कहो कि हे मेरे भगवन्! हे मेरे प्रिय! मृत्युकालीन भीषण यातना में भी यही कहो कि हे मेरे भगवन्! हे मेरे प्रिय! संसार के समस्त दुख-कष्टों के बीच यही कहती रहो——हे मेरे भगवन्! हे मेरे प्रिय! तुम यहीं पर हो, मैं तुम्हें देख रही हूँ। तुम मेरे साथ हो, मैं तुम्हारा अनुभव कर रही हूँ। मैं तुम्हारी हूँ, मुझे ग्रहण करो। मैं इस जगत् की नहीं हूँ, मैं तो तुम्हारी हूँ, अतः मुझे न त्यागो। इस हीरे की खान को छोड़कर सामान्य काँच के टुकड़ों को ढूँढ़ने में प्रवृत्त न हो। यह जीवन एक महान् सुयोग है—— क्या तुम इसकी अवहेलना कर सांसारिक सुख में फँसना चाहती हो? वे तो निखिल आनन्द के मूल स्रोतस्वरूप हैं। उस परम श्रेयस् का अनुसन्धान करो। वह परम श्रेयस् ही तुम्हारे जीवन का लक्ष्य बने और तुम लोग परम श्रेयस् को प्राप्त हो जाओ।" साशीर्वाद तुम्हारा,

——विवेकानन्द

इस प्रकार के अनेक पत्रों द्वारा स्वामीजी चारों बहनों को त्याग और वैराग्य के मार्ग में प्रेरित करते रहे, जीवन के उस चरम लक्ष्य की ओर सदैव उन्मुख रहने की प्रेरणा उनके हृदयों में भरते रहे। यद्यपि चारों बहनों के प्रति उनका समान स्नेह था, तथापि मेरी हेल और ईसाबेल मेकर्किडली अपने दृढ़ स्वभाव, तेजस्विता, विवेक और मनस्विता के कारण उनका विशेष स्नेह अर्जित करती रहीं। स्वामीजी ने पत्र भी इन्हीं दो बहनों को अधिक लिखे हैं। उन्होंने शायद इनको अध्यात्म की 'क्षुरस्य धारा' पर अग्रसर होने के लिए अधिक समर्थ पाया हो। तभी तो हैरियेट हेल की शादी का समाचार पाकर उन्होंने मेरी हेल को १७ सितम्बर, १८९६ को लिखा था––

"... हैरियेट के पत्र के शुभ संवाद से मुझे जो प्रसन्नता हुई, उसे शब्दों में व्यक्त करना मेरे लिए असम्भव है। मैंने उसे आज पत्र लिखा है। खेद है कि उसके विवाह के अवसर पर मैं न आ सकूँगा, किन्तु समस्त शुभकामनाओं और आशीर्वादों के साथ मैं अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा उपस्थित रहूँगा। मैं तुमसे तथा अन्य बहनों से भी इसी प्रकार के समाचार की अपेक्षा कर रहा हूँ, जिससे मेरी प्रसन्नता पूर्णता को प्राप्त होगी।

"इस जीवन में मुझे बड़ी नसीहत मिली है, और प्रिय मेरी ! मैं अब उसे तुम्हें बताना चाहता हूँ। वह यह है––'जितना ही ऊँचा तुम्हारा ध्येय होगा, उतना

ही अधिक तुम्हें सन्तप्त होना पड़ेगा ।' कारण यह है कि 'आदर्श' जैसी वस्तु की प्राप्ति 'संसार' के बीच अथवा इस जीवन में भी सम्भव नहीं हो सकती । जो इस संसार में पूर्णत्व चाहता है वह पागल है, क्योंकि यह हो ही नहीं सकता ।

"ससीम में असीम तुम्हें कैसे मिलेगा ? इसलिए मैं तुमसे कहता हूँ कि हैरियेट का जीवन अत्यन्त आनन्दमय और सुखमय होगा, क्योंकि वह इतनी कल्पनाशील और भावुक नहीं है कि अपने को मूर्ख बना ले । जीवन को सुमधुर बनाने की भावुकता उसमें पर्याप्त है और जीवन की कठोर गुत्थियों को, जो प्रत्येक के सामने आती ही हैं, सुलझाने के लिए उसमें काफी समझदारी और कोमलता भी है । उससे भी अधिक मात्रा में वे ही गुण हैरियेट मैककिंडले में भी हैं । वह भी ऐसी लड़की है जो सर्वोत्तम पत्नी होने लायक है, पर यह दुनिया ऐसे मूर्खों से भरी हुई है कि इने-गिने ही आन्तरिक सौन्दर्य को परख पाते हैं ! पर तुम्हारे और ईसाबेल के लिए मैं 'स्पष्ट भाषा' में सच्ची बात कहना चाहूँगा ।

"मेरी ! तुम तो एक बहादुर अरब जैसी हो—— शानदार और भव्य । तुम भव्य राजमहिषी बनने योग्य हो —— शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से । तुम किसी तेज़-तर्रार, बहादुर और जोखिम उठाने-वाले वीर पति की पार्श्ववर्ती बनकर चमक उठोगी, पर

मेरी प्यारी बहन ! पत्नी के रूप में तुम बिल्कुल नाकामयाब साबित होगी । सामान्य दुनिया में जो आराम से जीवन बितानेवाले, व्यावहारिक तथा काम के बोझ से पिसनेवाले पति होते हैं, उनकी तो तुम जान ही निकाल लोगी । सावधान बहन ! यद्यपि वास्तविक जीवन में किसी उपन्यास की अपेक्षा अधिक रूमानियत है, पर वह है बहुत कम । अतएव तुम्हें मेरी सलाह है कि जब तक तुम अपने आदर्शों को व्यावहारिक स्तर पर न ले आ सको, तब तक हर्गिज़ विवाह मत करना । यदि कर लिया तो दोनों का जीवन दुख-मय होगा । कुछ ही महीनों में सामान्य कोटि के उत्तम, भले युवक के प्रति तुम अपना सारा आदर खो बैठोगी और तब जीवन नीरस हो जायेगा । बहन ईसाबेल का स्वभाव भी तुम्हारे जैसा है । अन्तर इतना ही है कि किंडरगार्टन की अध्यापिका होने के नाते उसने धैर्य और सहिष्णुता का अच्छा पाठ सीख लिया है । सम्भवतः वह अच्छी पत्नी बनेगी ।

"दुनिया में दो तरह के लोग हैं । एक कोटि तो उन लोगों की है, जो दृढ़ स्नायुओंवाले, शान्त तथा प्रकृति के अनुरूप आचरण करनेवाले होते हैं । ये अधिक कल्पनाशील नहीं होते, फिर भी अच्छे, दयालु, सौम्य आदि होते हैं । दुनिया ऐसे लोगों के लिए ही है—वे ही सुखी रहने के लिए पैदा हुए हैं । दूसरी कोटि उन लोगों की है जिनके स्नायु अधिक तनावपूर्ण

हैं, जिनमें प्रगाढ़ भावना है, जो अत्यधिक कल्पनाशील हैं, जो एक क्षण में बहुत ऊँचे और दूसरे क्षण में नीचे उतर जाते हैं। उनके लिए सुख नहीं। पहली कोटि के लोगों का सुखकाल प्राय: सम होता है और दूसरी कोटि के लोगों को हर्ष-विषाद के द्वन्द्व में जीवन व्यतीत करना पड़ता है। किन्तु इसी दूसरी कोटि में उन लोगों का आविर्भाव होता है जिन्हें हम प्रतिभासम्पन्न कहते हैं। हाल के इस सिद्धान्त में कुछ सचाई है कि प्रतिभा एक प्रकार का पागलपन है'।

"अब, इस कोटि के लोग यदि महान् बनना चाहें तो उन्हें वारे-न्यारे की लड़ाई लड़नी होगी--युद्ध के लिए मैदान साफ करना पड़ेगा। न किसी प्रकार का बोझ हो--न जोरू, न जाँता, न बच्चे और न किसी वस्तुविशेष के प्रति अत्यधिक आसक्ति। अनुरक्ति केवल एक 'भाव' के प्रति और उसके ही निमित्त जीना और मरना। मैं इसी प्रकार का मनुष्य हूँ। मैंने केवल वेदान्त का भाव ग्रहण किया है और युद्ध के लिए मैदान साफ कर लिया है। तुम और ईसाबेल भी इसी धातु की बनी हो। परन्तु मै तुम्हें बता देना चाहता हूँ, यद्यपि यह कटु सत्य है, 'तुम लोग अपना जीवन व्यर्थ में चौपट कर रही हो।' या तो तुम लोग एक भाव ग्रहण कर लो, उसके लिए रास्ता साफ करो और जीवन अर्पित कर दो, अथवा सन्तुष्ट एवं व्याव-हारिक बनो। आदर्श नीचा करो, विवाह कर लो और

'सुखमय जीवन' व्यतीत करो। या तो 'भोग' या फिर 'योग'——सांसारिक सुख भोगो या सब त्यागकर योगी बनो। 'एक साथ दोनों की उपलब्धि किसी को नहीं हो सकती।' अभी या फिर कभी नहीं। शीघ्र चुन लो। कहावत है कि 'जो बहुत तुनुकमिजाज होता है, उसके हाथ कुछ नहीं लगता।' अब सच्चे दिल से वास्तव में और सदा के लिए कर्म-संग्राम के लिए 'मैदान साफ करने' का संकल्प करो। कुछ भी ले लो——दर्शन या विज्ञान या धर्म अथवा साहित्य, कुछ भी ले लो और अपने शेष जीवन के लिए उसी को अपना ईश्वर बना लो। या तो सुख ही लाभ करो या महानता। तुम्हारे या ईसाबेल के प्रति मेरी कोई सहानभूति नहीं है। न तो तुमने इसे चुना है और न उसे। मैं तुम्हें हैरियेट जैसा सुखी अथवा 'महान्' देखना चाहता हूँ। भोजन, मद्यपान, शृंगार तथा सामाजिक अल्हड़पन ऐसी वस्तुएँ नहीं हैं, जिनके लिए मेरी, विशेषकर तुम, अपना जीवन समर्पित कर दो। तुम एक उत्कृष्ट मस्तिष्क और योग्यताओं में घुन लगने दे रही हो जिसके लिए तनिकसा भी कोई कारण नहीं है। तुममें महान् बनने की महत्त्वाकांक्षा होनी चाहिए। मैं जानता हूँ कि तुम मेरी इन कटूक्तियों को समुचित भाव से ग्रहण करोगी, क्योंकि तुम्हें मालूम है कि मैं तुम लोगों को अपनी बहन कहकर जो सम्बोधित करता हूँ, तो वैसा ही या उससे

भी अधिक तुम्हें प्यार करता हूँ । यह सब बताने का मेरा बहुत पहले से विचार था और ज्यों ज्यों अनुभव बढ़ता जा रहा है त्यों त्यों इसे प्रकट करने की इच्छा होती रही है । हैरियेट से जो हर्षप्रद समाचार मिला उससे हठात् तुम्हें यह सब कहने को प्रेरित हुआ । तुम्हारे भी विवाहित हो जाने और सुखी होने पर जितना सुख इस संसार में सुलभ हो सकता है वह पाकर मुझे बेहद खुशी होगी, अन्यथा मैं तुम्हारे बारे में यह सुनना पसन्द करूँगा कि तुम महान् कार्य कर रही हो ।. . ."

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में भी जब वे लम्बी बीमारी से गुजर रहे थे, वे इन बहनों को उद्बुद्ध करने में पीछे नहीं रहे । उनका जीवनोद्देश्य ही था सबको अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए, अन्तर्निहित आत्मतत्त्व की उपलब्धि के लिए भरसक प्रेरित करना । फिर इन पवित्र, निर्मल, विशुद्ध बहनों के प्रति उनके इस प्रयत्न का क्या कहना ! जीवन पर्यन्त वे उन्हें इस आदर्श की याद दिलाते रहे । २७ अगस्त, १९०१ को मेरी हेल को अपने अन्तिम पत्र में लिखा था--

"मैं मनाता हूँ कि मेरा स्वास्थ्य तुम्हारी आशा के अनुरूप हो जाय, कम से कम इतना अच्छा कि तुम्हें एक लम्बा पत्र ही लिख सकूँ । पर यथार्थ यह है कि वह दिन-प्रतिदिन गिरता ही जा रहा है । इसके अतिरिक्त भी अनेक परेशानियाँ और उलझनें साथ

लगी हैं। मैंने तो अब उन पर ध्यान देना ही छोड़ दिया है।....

" 'स्त्रियों का चरित्र और पुरुषों का भाग्य इन्हें स्वयं ईश्वर भी नहीं जानता, मनुष्य की तो बात ही क्या!' चाहे यह मेरा स्त्रियोचित स्वभाव ही मान लिया जाय, पर इस क्षण तो मेरे मन में यही आता है कि काश! तुम्हारे भीतर पुरुषत्व का थोड़ा अंश होता। ओह मेरी! तुम्हारी बुद्धि, स्वास्थ्य, सुन्दरता, सब उस एक आवश्यक तत्त्व के बिना व्यर्थ जा रहे हैं। वह है--व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा। तुम्हारा दर्प, तुम्हारी तेजी, सब बकवास है, केवल मजाक। अधिक से अधिक तुम एक बोर्डिंग स्कूल की छोकरी हो--रीढ़हीन! विल्कुल ही रीढ़हीन!!

"आह! यह जीवन पर्यन्त दूसरों को रास्ता सुझाते रहने का व्यापार! यह अत्यन्त कठोर है, अत्यन्त क्रूर! पर मैं असहाय हूँ इसके आगे। मैं तुम्हें प्यार करता हूँ, मेरी! ईमानदारी और सचाई से। मैं तुम्हें प्रिय लगनेवाली बातों से छल नहीं सकता। न ही यह मेरे बस का रोग है।

"फिर मैं एक मरणोन्मुख व्यक्ति हूँ, मेरे पास छल करने के लिए समय नहीं। अतः ऐ लड़की! जाग। अब मैं तुमसे ऐसे पत्रों की आशा करता हूँ जिनमें खड़ी धार जैसी तेजी हो। ऐसी तेजी बनाये रखना। मुझे पर्याप्त रूप से झटकों की आवश्यकता है।...

"खाने, पीने, सोने और शेष समय में शरीर की शुश्रूषा करने के सिवाय मैं और कुछ नहीं करता। विदा, मेरी ! आशा है इस जीवन में कहीं न कहीं हम तुम अवश्य मिलेंगे। और न भी मिलें तो भी तुम्हारे इस भाई का प्यार तो सदा तुम पर रहेगा ही"

—विवेकानन्द

(क्रमशः)

●

दुष्कर्म द्वारा हम केवल अपना ही नहीं वरन् दूसरों का भी अहित करते हैं और सत्कर्म द्वारा हम अपना तथा दूसरों का भी भला करते हैं। . . . कर्मयोग के अनुसार, बिना फल उत्पन्न किये कोई भी कर्म नष्ट नहीं हो सकता। प्रकृति की कोई भी शक्ति उसे फल उत्पन्न करने से नहीं रोक सकती। यदि मैं कोई बुरा कर्म करूँ, तो उसका फल मुझे भोगना ही पड़ेगा; विश्व में ऐसी कोई ताकत नहीं, जो इसे रोक सके। इसी प्रकार, यदि मैं कोई सत्कार्य करूँ, तो विश्व में ऐसी कोई शक्ति नहीं, जो उसके शुभ फल को रोक सके।

——स्वामी विवेकानन्द

गीताप्रवचन—११

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान ।)

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।। १० ।।

(अस्माकं) हमारी (तत्) वह (भीष्माभिरक्षितं) भीष्म के द्वारा रक्षित (बलम्) सेना (अपर्याप्तं) अपर्याप्त है (तु) जबकि (एतेषां) इनकी (भीमाभिरक्षितम्) भीम के द्वारा रक्षित (इदं) यह (बलं) सेना (पर्याप्तम्) पर्याप्त है ।

"ऐसी वह पितामह भीष्म द्वारा रक्षित हमारी सेना अपर्याप्त है, परन्तु भीम द्वारा रक्षित इन पाण्डवों की यह सेना पर्याप्त है ।"

इस श्लोक के अर्थ में बहुत मदभेद हैं । दुर्योधन के कथन का आशय स्पष्ट नहीं है । उसकी बात कुछ गोल-गोल मालूम होती है । कुछ व्याख्याकारों का मत है कि यह श्लोक कूट श्लोकों के अन्तर्गत आता है । हम पहले कह चुके हैं कि महाभारत के ही अनुसार उसके कूट श्लोकों की संख्या ८,८०० है। पर यह कहना कठिन है कि वे आठ हजार आठ सौ कूट श्लोक कौन से हैं । कूट श्लोक वे थे जिन्हें समझने के लिए गणेशजी को भी लेखनी रख देनी पड़ती थी ।

'अपर्याप्त' का जो अर्थ साहित्य में प्रचलित है वह है : 'जो पर्याप्त न हो' । 'पर्याप्त' का अर्थ 'बस' या

'काफी' माना जाता है । इससे 'अपर्याप्त' का सामान्य अर्थ हुआ 'जो काफी न हो', यानी जो पूरा न पड़ता हो । यदि 'पर्याप्त' और 'अपर्याप्त' का यही अर्थ लें, तब दुर्योधन के कथन का यह तात्पर्य होगा कि उसकी स्वयं की सेना का बल पाण्डवों को हराने के लिए पूरा न पड़ेगा, जबकि पाण्डवों का सैन्य-बल उसकी अपनी सेना को हराने के लिए काफी है । पर प्रश्न उठता है कि क्या दुर्योधन इस आशय की बात अपने ही पक्ष के लोगों से कह सकता है ? फिर ऐसा कहना तो भीष्म पितामह की प्रतिष्ठा पर आघात करना है । आगे के श्लोकों से पता चलता है कि दुर्योधन की बात भीष्म पितामह भी सुन रहे थे । तो क्या दुर्योधन पितामह के सुनते उन पर ऐसा आक्षेप कर सकता है ? फिर, भीष्म कौरवों के सेनापति थे । सेनापति पर ऐसे विषम समय में, और वह भी उसके सुनते, कोई राजा ऐसा आक्षेप कर सकेगा इसकी तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। दुर्योधन इतना विचारहीन नहीं था कि भीष्म को नाहक रुष्ट कर ले । फिर, महाभारत के युद्ध-प्रकरण से हमें ज्ञात होता है कि दुर्योधन मन ही मन भीष्म से बड़ा डरता था । वह उनके सामने किसी प्रकार का आक्षेप या कटाक्ष नहीं कर सकता था ।

दूसरी बात यह कि इसके पहले दुर्योधन ने पाण्डवों से हार जाने की बात कभी नहीं कही । जब भी युद्ध की चर्चा हुई तो दुर्योधन ने सदैव जोर देकर

यही कहा कि जीत उसी की होगी। महाभारत के उद्योगपर्व (५५।६५-६८) में धृतराष्ट्र से अपनी सेना का वर्णन करते हुए वह कहता है—

अक्षौहिण्यो हि मे राजन् दशैका च समाहृताः।
न्यूनाः परेषां सप्तैव कस्मान्मे स्यात् पराजयः॥
बलं त्रिगुणतो हीनं योध्यं प्राह बृहस्पतिः।
परेभ्यस्त्रिगुणा चेयं मम राजन्ननीकिनी॥
गुणहीनं परेषां च बहु पश्यामि भारत।
गुणोदयं बहुगुणमात्मनश्च विशाम्पते॥
एतत् सर्वं समाज्ञाय बलाग्र्यं मम भारत।
न्यूनतां पाण्डवानां च न मोहं गन्तुमर्हसि॥

—"महाराज ! अपने यहाँ ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ संगृहीत हो गयी हैं, परन्तु शत्रुओं के पक्ष में हमसे बहुत कम कुल सात अक्षौहिणी सेनाएँ हैं; फिर मेरी पराजय कैसे हो सकती है? राजन्! बृहस्पति का कथन है कि शत्रुओं की सेना अपने से एक तिहाई भी कम हो तो उसके साथ अवश्य युद्ध करना चाहिए। परन्तु मेरी यह सेना तो शत्रुओं की अपेक्षा चार अक्षौहिणी अधिक है, इसलिए यह अन्तर मेरी सम्पूर्ण सेना की एक तिहाई से भी अधिक है। भारत! प्रजानाथ! मैं देख रहा हूँ कि शत्रुओं का बल हमारी अपेक्षा अनेक प्रकार से गुणहीन (न्यूनतम) है, परन्तु मेरा अपना बल सब प्रकार से बहुत अधिक एवं गुणशाली है। भरतनन्दन! इन सभी दृष्टियों से

मेरा बल अधिक है और पाण्डवों का बहुत कम है; यह जानकर आप व्याकुल एवं अधीर न हों।"

फिर, युद्ध के दूसरे दिन भी जब पाण्डवगण क्रौंच नामक व्यूह की रचना करते हैं, दुर्योधन अपने पक्ष के वीरों को सम्बोधित करके कहता है (भीष्मपर्व, ५१।५)—

एकैकशः समर्था हि यूयं सर्वे महारथाः।
पाण्डुपुत्रान् रणे हन्तुं ससैन्यान् किमु संहताः।।

—"आप सभी महारथी हैं। आपमें से प्रत्येक योद्धा रणक्षेत्र में सेनासहित पाण्डवों का वध करने में समर्थ हैं। फिर सब लोग मिलकर उन्हें परास्त कर दें, इसके लिए तो कहना ही क्या है।"

इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि दुर्योधन युद्ध के समय अपने पक्ष के हार जाने की बात कैसे कहेगा? इससे क्या उसके पक्ष की सेना कुण्ठाग्रस्त न हो जायगी? वस्तुतः दुर्योधन को चाहिए कि अपनी सेना का 'मोरेल' ऊँचा रखे, उसके उत्साह को बढ़ाये। और यही वह करता भी है।

अतएव यही समीचीन मालूम पड़ता है कि 'अपर्याप्त' और 'पर्याप्त' शब्दों को प्रचलित अर्थ में नहीं लेना चाहिए, बल्कि इनका सन्दर्भ के अनुसार क्रमशः 'अपरिमित' और 'परिमित' अर्थ करना चाहिए। 'पर्याप्त' शब्द का धात्वर्थ होता है 'चारों ओर से सीमित'। 'अपर्याप्त' का अर्थ इसका उल्टा हुआ। अतः दुर्योधन के कथन का तात्पर्य यह होता है

कि हमारी सेना अपरिमित है और पाण्डवों की सेना सीमित है। फिर, हमारी ओर से सेनानायक परम-प्रतापी भीष्म हैं, वे ही हमारे अभिरक्षक हैं, जबकि पाण्डवों का अभिरक्षक वह चंचलमना, अविवेकी भीम है। अतएव हमारी जीत सुनिश्चित है।

कुछ टीकाकारों ने ऐसी भी व्याख्या की है कि पाण्डवों की व्यूहबद्ध सेना को देखकर दुर्योधन डर गया था, इसलिए वह अपने सैन्यबल को अपर्याप्त (कम) मानता है और पाण्डवों की सैन्य-शक्ति को पर्याप्त (काफी)। यह दृष्टिकोण भी उचित मालूम पड़ता है; क्योंकि भीतर के भय के कारण ही दुर्योधन की बातें कुछ अटपटी-सी निकल रही थीं। वह भीतर से पाण्डवों से भयभीत तो था, पर अपने इस भय को बाहर प्रकट नहीं होने देना चाहता था। तथापि उसकी कुण्ठा भीष्म की अन्तर्भेदी दृष्टि से अछूती न रह सकी, जैसा कि हम आगे देखेंगे। उसके वचन की अस्पष्टता उसकी कुण्ठा का ही फल है।

इस श्लोक में और एक शंका यह आती है कि दुर्योधन अपनी सेना के लिए तो 'तत्' (वह) शब्द का प्रयोग करता है तथा पाण्डवों की सेना के लिए 'इदम्' (यह) का। वस्तुतः जो अपने से दूर हो उसके लिए 'तत्' का प्रयोग किया जाता है और जो अपने समीप हो उसके लिए 'इदम्' का। इसकी भी व्याख्या कई प्रकार से की गयी है। यहाँ पर हम दो महत्त्वपूर्ण

व्याख्याओं का ही उल्लेख करेंगे ।

एक के अनुसार 'अस्माकम्' और 'एतेषाम्' इन दो शब्दों को षष्ठी में न लेकर चतुर्थी में लिया है तथा 'भीष्माभिरक्षितम्' एवं 'भीमाभिरक्षितम्' पदों में बहुव्रीहि समास माना गया है । इससे श्लोक का अर्थ यों होगा कि अस्माकं भीष्माभिरक्षितं बलं (हमारे भीष्म द्वारा रक्षित सैन्य के लिए यानी उसे जीतने के लिए) तद् अपर्याप्तम् (वह यानी पाण्डवों की सेना अपर्याप्त है), तथा एतेषां भीमाभिरक्षितं बलम् (इनकी भीम द्वारा रक्षित सेना के लिए यानी उसे जीतने के लिए) इदं पर्याप्तम् (यह यानी हमारी सेना पर्याप्त है) । इस व्याख्या के अनुसार 'तत्' और 'इदम्' का अर्थ भी ठीक घट जाता है तथा 'पर्याप्त' और 'अपर्याप्त' के सामान्य प्रचलित अर्थ को बदलने की भी आवश्यकता नहीं होती । पर हाँ, इसमें शब्दों की तोड़-मरोड़ कुछ अधिक करनी पड़ती है ।

दूसरी व्याख्या के अनुसार 'तत्' को 'तस्मात्' (इसलिए) के अर्थ में लिया गया है, परन्तु यहाँ 'पर्याप्त' और 'अपर्याप्त' का अर्थ 'परिमित' और 'अपरिमित' लिया गया है । इसके अनुसार इस श्लोक का सम्बन्ध पिछले से विशेष रूप से जुड़ जाता है । इसके पहले दुर्योधन ने कहा था कि अन्य बहुत से शूरवीर मेरे लिए अपने प्राणों को त्यागकर खड़े हैं । अब इस श्लोक में इसी का निष्कर्ष निकालते हुए कहता है --

'इसलिए भीष्म से अभिरक्षित हमारा सैन्यबल अपरिमित है, जबकि भीम से अभिरक्षित इन पाण्डवों का यह सैन्यबल परिमित है।' यहाँ पाण्डवों के लिए 'एतेषाम्' (इन) और उनके सैन्यबल के लिए 'इदम्' (यह) शब्दों का जो प्रयोग हुआ है, वह भी सन्दर्भ में घट जाता है। जहाँ दो पक्षों के सम्बन्ध में कहा जाता हो, वहाँ समीप के लिए 'यह' और दूरस्थ के लिए 'वह' का प्रयोग वांछनीय है पर जहाँ एक ही पक्ष के सम्बन्ध में कहा जा रहा हो, वहाँ 'यह' कहना दोषपूर्ण नहीं है। फिर पाण्डव-सेना तो सामने ही खड़ी थी। अतएव यदि दुर्योधन उसके लिए 'इदम्' और 'एतेषाम्' कहता हो, तो उसमें कोई अनौचित्य नहीं है। वह तो पहले भी (तीसरे श्लोक में) पाण्डव सेना के लिए 'एताम्' (इन) का प्रयोग कर चुका है।

इस श्लोक म अन्तिम शंका यह खड़ी होती है कि दुर्योधन ने अपनी सेना को 'भीष्माभिरक्षित' कहा, यह तो ठीक कहा, क्योंकि भीष्म कौरवों के सेनापति थे; पर उसने पाण्डव-सेना के लिए 'भीमाभिरक्षित' क्यों कहा, जबकि पाण्डवों की ओर का सेनापति धृष्टद्युम्न था? इसका समाधान यह है कि पहले दिन पाण्डवों ने व्रज नाम का जो व्यूह रचा था, उसकी रक्षा के लिए इस व्यूह के अग्रभाग में भीम को नियुक्त किया गया था। अतएव दुर्योधन की आँखों में उस समय भीम ही सेनारक्षक के रूप में दिखायी दे रहे थे।

तभी तो महाभारत में, गीता के पूर्व के अध्यायों में, जहाँ पर दोनों सेनाओं का वर्णन हुआ है, वहाँ उन्हें 'भीमनेत्र' और 'भीष्मनेत्र' कहा गया है।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

(सर्वेषु) सब (च) ही (अयनेषु) मोरचों पर (यथाभागम्) अपनी अपनी जगह (अवस्थिताः) डटे हुए (भवन्तः) आप (सर्वे) सब (एव हि) ही (भीष्मम्) भीष्म की (एव) ही (अभिरक्षन्तु) रक्षा करें।

"(तो अब) आप लोग सब के सब, सभी मोरचों पर अपनी अपनी जगह डटे हुए, केवल पितामह भीष्म की ही रक्षा करें।"

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि अभी ही तो दुर्योधन ने अपनी सेना को अपराजेय कहा, फिर वह ऐसा क्यों कहता है कि आप सब लोग मिलकर भीष्म की रक्षा करें? क्या वह नहीं जानता था कि भीष्म अति पराक्रमी और युद्ध में अजेय हैं? जब धृतराष्ट्र पाण्डवों के बल-पराक्रम की बात सोचकर विकल होने लगे, तो दुर्योधन ने भीष्म के बल का वर्णन करते हुए उन्हें समझाते हुए कहा था (उद्योगपर्व ५५/२०-२२)—

पुरैकेन हि भीष्मेण विजिताः सर्वपार्थिवाः ।
मृते पितर्यतिक्रुद्धो रथेनैकेन भारत ॥
जघान सुबहूंस्तेषां संरब्धः कुरुसत्तमः ।
ततस्ते शरणं जग्मुर्देवव्रतमिमं भयात् ॥
स भीष्मः सुसमर्थोऽयमस्माभिः सहितो रणे ।
परान् विजेतुं तस्मात् ते व्येतु भीर्भरतर्षभ ॥

––"भारत! पहले की बात है, अपने पिता शान्तनु की मृत्यु के पश्चात् भीष्मजी ने किसी समय अत्यन्त क्रोध में भरकर एकमात्र रथ की सहायता से अकेले ही सब राजाओं को जीत लिया था। रोष में भरे हुए कुरुश्रेष्ठ भीष्म ने जब उनमें से बहुत से राजाओं को मार डाला, तब वे डर के मारे पुनः इन्हीं देवव्रत (भीष्म) की शरण में आये। भरतश्रेष्ठ ! वे ही पूर्ण सामर्थ्यशाली भीष्म युद्ध में शत्रुओं को जीतने के लिए हमारे साथ हैं; अतः आपका भय दूर हो जाना चाहिए।"

तब दुर्योधन भीष्म की रक्षा के लिए इतना चिन्तित क्यों होता है ? क्यों वह अपने पक्ष के समस्त शूर-वीरों से भीष्म की ही रक्षा करने की बात कहता है ? इसका एक विशेष कारण है। दुर्योधन मानता था कि अकेले भीष्म ही पाण्डवों के बल को निःशेष कर देने में सक्षम हैं ; पर भीष्म का निश्चय था कि वे शिखण्डी पर अस्त्र न चलायेंगे। दुर्योधन इस रहस्य को दुःशासन से प्रकट करता हुआ कहता है (भीष्मपर्व, १५।१४-१८)––

नातः कार्यतमं मन्ये रणे भीष्मस्य रक्षणात्।
हन्याद् गुप्तो ह्यसौ पार्थान् सोमकांश्च ससृंजयात् ॥
अब्रवीच्च विशुद्धात्मा नाहं हन्यां शिखण्डिनन्।
श्रूयते स्त्री ह्यसौ पूर्वं तस्माद् वर्ज्यो रणे मम ॥
तस्माद् भीष्मो रक्षितव्यो विशेषेणेति मे मतिः।
शिखण्डिनो वधे यत्ताः सर्वे तिष्ठन्तु मामकाः ॥
तथा प्राच्याः प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्योत्तरापथाः।

सर्वशास्त्रेषु कुशलास्ते रक्षन्तु पितामहम् ।।
अरक्ष्यमाणं हि वृको हन्यात् सिंहं महाबलम् ।
मा सिंहं जम्बुकेनेव घातयामः शिखण्डिना ।।

——"इस समय युद्ध में भीष्मजी की रक्षा से बढ़कर दूसरा कोई कार्य मैं आवश्यक नहीं समझता हूँ; क्योंकि वे सुरक्षित रहें तो कुन्ती के पुत्रों, सोमकवंशियों तथा सृंजयों को भी मार सकते हैं। विशुद्ध हृदयवाले पितामह भीष्म मुझसे कह चुके हैं कि 'मैं शिखण्डी को युद्ध में नहीं मारूँगा; क्योंकि सुनने में आया है कि वह पहले स्त्री था, अतः रणभूमि में मेरे लिए वह सर्वथा त्याज्य है'। इसलिए मेरा विचार है कि इस समय हमें विशेषरूप से भीष्मजी की रक्षा में ही तत्पर रहना चाहिए। मेरे सारे सैनिक शिखण्डी को मार डालने का प्रयत्न करें। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर दिशा के जो जो वीर अस्त्र-विद्या में सर्वथा कुशल हों, वे पितामह की रक्षा करें। यदि महाबली सिंह भी अरक्षित दशा में हो तो उसे एक भेड़िया भी मार सकता है। हमें चाहिए कि सियार के समान शिखण्डी के द्वारा सिंहसदृश भीष्म को न मरने दें।"

यहाँ श्लोकके अन्त में 'हि' शब्द अपनी बात पर जोर देने के लिए प्रयुक्त हुआ है। जैसे बोलचाल की भाषा में हम किसी बात पर बल देने के लिए कहते हैं —— 'आप समझे ?' इससे यही ध्वनित किया गया कि आप सब मिलकर भीष्म की ही रक्षा करें।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ।। १२ ।।

(प्रतापवान्) प्रतापी (कुरुवृद्धः) कौरवों में वृद्ध (पितामहः) पितामह (तस्य) उसके (हर्षं) हर्ष को (संजनयन्) उत्पन्न करते हुए (उच्चैः) उच्च स्वर में (सिंहनादं) सिंहनाद (विनद्य) बजाते हुए (शंखं) शंख को (दध्मौ) फूंका।

"(तब) कुरुवंशियों में वृद्ध प्रतापी पितामह भीष्म ने उस दुर्योधन के हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वर से सिंह के समान गर्जकर शंख बजाया।"

दुर्योधन ने द्रोणाचार्य से जो कहा उसका वर्णन कर संजय अब धृतराष्ट्र को बतलाते हैं कि युद्ध कैसे प्रारम्भ हुआ। भीष्म तो दुर्योधन की बात सुन ही रहे थे। वे उसकी कुण्ठा को पकड़ लेते हैं। वे जान जाते हैं कि वास्तव में दुर्योधन अन्दर ही अन्दर पाण्डवों से डर रहा है। भले वह शिखण्डी का बहाना बताकर भीष्म की सब प्रकार से रक्षा करने की बात कह रहा है, पर असल में वह भयभीत हो गया है। फिर भीष्म यह भी देखते हैं कि दुर्योधन के इतना सब कहने पर भी द्रोणाचार्य ने प्रत्युत्तर में उसको बढ़ावा देते हुए कुछ न कहा, बल्कि वे एक प्रकार से उदासीन भाव धारण करते हैं। भीष्म ने सोचा कि इससे तो दुर्योधन का हृदय और भी बैठ जायगा, इसलिए वे उसके हर्ष को उत्पन्न करते हुए जोरों से सिंह के समान दहाड़ मारकर अपना शंख फूँकते हैं। दुर्योधन के हर्ष को 'उत्पन्न करना पड़ रहा है' इसका तात्पर्य यह है

कि उसका हर्ष गायब हो चुका है ।

भीष्म कौरवों के सेनापति हैं । उनका शंख फूँकना यह दर्शाता है कि कौरव ही युद्ध का प्रारम्भ करते हैं । वैसे तो आक्रमणकारी पाण्डव थे और नियम के अनुसार उन्हें ही प्रथम शंख-ध्वनि करनी थी । पर वे चुप हैं, शान्तिप्रिय हैं और सोचते हैं कि अन्त तक भी यदि किसी तरह समझौता हो जाय, तो उत्तम है । यह पाण्डवों की शान्ति-प्रिय नीति तथा कौरवों की आक्रामक-नीति को प्रदर्शित करता है । फिर सम्भवतः भीष्म यह सोचते हैं कि यदि और कुछ विलम्ब हुआ तो सम्भव है, द्रोणाचार्य की उपेक्षा दुर्योधन के रहे-सहे साहस को भी खत्म कर दे, इसलिए वे युद्ध में और अधिक देर नहीं करना चाहते । तभी तो वे सिंहगर्जन करते हुए शंख फूँक देते हैं । सिंहगर्जन पाण्डवों को एक ललकार है, चुनौती है ।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ।। १३ ।।

(ततः) तब (शंखाः) शंख (च) और (भैर्यः) बड़े नगारे (च) और (पणव-आनक-गोमुखाः) ढोल, मृदंग (नगारे) और रणसिंगा (सहसा एव) अचानक ही (अभ्यहन्यन्त) बज उठे (सः) वह (शब्दः) आवाज (तुमुलः) बड़ी भयंकर (अभवत्) हुई ।

"तब शंख, नगारे, ढोल, मृदंग और रणसिंगा आदि बाजे अचानक ही एक साथ बज उठे । वह आवाज बड़ी भयंकर हुई ।"

बाजों का बजाया न जाकर अचानक बज उठना

एक ओर हड़बड़ी सूचित करता है, तो दूसरी ओर अमंगल। यहाँ यह तो कहा कि आवाज बड़ी भयंकर हुई, पर यह न कहा कि पाण्डवों पर उसका कोई प्रभाव पड़ा।

कौरव सदैव से आक्रामक रहे हैं। महाभारत के युद्ध में भी भला वे क्यों न वैसा होते? कौरवों की ओर से प्रथम शंखनाद उनके इसी स्वभाव की पुष्टि करता है।

(क्रमशः)

स्वार्थपरता ही, अर्थात् स्वयं के सम्बन्ध में पहले सोचना ही सब से बड़ा पाप है। जो मनुष्य यह सोचता रहता है कि मैं पहले खा लूँ, मुझे ही सबसे अधिक धन मिल जाय, मैं ही सर्वस्व का अधिकारी बन जाऊँ, मेरी ही सबसे पहले मुक्ति हो जाय तथा मैं ही औरों से पहले सीधा स्वर्ग को चला जाऊँ, वह निश्चय ही स्वार्थी है। निःस्वार्थ व्यक्ति तो यह कहता है, 'मुझे अपनी चिन्ता नहीं है, मुझे स्वर्ग जाने की भी कोई आकांक्षा नहीं है; यदि मेरे नरक में जाने से किसी को लाभ हो सकता है तो मैं उसके लिए भी तैयार हूँ।' यह निःस्वार्थता ही धर्म की परीक्षा है। जिसमें जितनी अधिक निःस्वार्थता है वह उतना ही आध्यात्मिक है तथा उतना ही श्रीशिवजी के समीप है।

—स्वामी विवेकानन्द

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) प्रमाद की पहचान

भगवान् बुद्ध कोण्डिया नगर में भ्रमण कर रहे थे। एक दिन भिक्षु संगामजी ने प्रश्न किया, "भगवन्! संसार के प्रमाद में पड़े हुए को कैसे पहचाना जा सकता है?" बुद्धदेव ने उस समय तो कोई उत्तर नहीं दिया और वे दूसरे विषय पर चर्चा करते रहे।

दूसरे ही दिन उन्हें कोलियपुत्री सुप्पवासा के यहाँ भोज का निमंत्रण प्राप्त हुआ। सुप्पवासा सात वर्ष तक गर्भ धारण करने का कष्ट भोग चुकी थी और बुद्ध देव की कृपा से उसे इस कष्ट से छुटकारा मिला था। इसी उपलक्ष में उसने श्रद्धावश भिक्षु-संघ को भोज का निमंत्रण दिया था। भोजन करते समय तथागत ने देखा कि सुप्पवासा का पति नवजात शिशु को लिये समीप ही खड़ा है। बालक सात वर्ष तक गर्भ में रहने के कारण विकसित था तथा सुन्दर भी था। उसकी क्रीड़ा करने की गतिविधियाँ बड़ी ही मनमोहक थीं। वह अपनी माता के पास जाने के लिए बार बार मचल रहा था। बुद्धदेव ने मुस्कराते हुए सुप्पवासा से प्रश्न किया, "बेटी! यदि तुझे ऐसे पुत्र मिलें, तो तू कितने पुत्रों की कामना कर

सकती है ?" सुप्पवासा ने उत्तर दिया, "भगवन् ! मुझे ऐसे सात पुत्र भी हों, तो भी मैं दुःखी न होऊँगी !"

संगाम जी तथागत को बगल में ही बैठे थे । उन्हें आश्चर्य हुआ कि कल तक जो प्रसव की पीड़ा से बुरी तरह व्याकुल थी, आज वह एक नहीं, सात-सात पुत्रों की कामना कर रही है । बुद्धदेव उनके मन की बात ताड़ गये, बोले, "तुम्हारे कल के प्रश्न का यही उत्तर है !"

(२) कष्ट-सहिष्णुता

एक व्यक्ति भगवान् महावीर से ईर्ष्या किया करता । उनकी कठोर तपस्या, त्याग और अहिंसा को निरा ढोंग मान वह उन्हें तंग करता रहता, किन्तु महावीर तनिक भी विचलित न होते । अन्त में हारकर वह उनके पास आकर बोला, "मैंने आपको नाना प्रकार के कष्ट दिये, किन्तु आप सब कुछ सहन करते रहे । यह आपसे कैसे हो पाया ?" यह सुनते ही भगवान् की आँखों से आँसू बहने लगे । उस व्यक्ति को यह देखकर और भी आश्चर्य हुआ । उसने पूछा, "भगवन् ! आपके नेत्रों में आँसू कैसे ?"

"मित्र !" महावीर बोले, "तुमने मुझे भयंकर कष्ट दिये, इसके लिए ये आँसू नहीं निकले, वरन् मुझे तंग करने के कारण तुम्हें कष्ट झेलने पड़ेंगे, यह सोच मेरी आँखें भर आयीं । मुझे यह देख अतीव दुःख हो रहा है कि मेरे लिए एक अबोध आत्मा को

कितनी यातनाएँ भोगनी पड़ेंगी।" और यह सुन उस व्यक्ति को बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ तथा उसने महावीर से क्षमा माँगी।

(३) निस्पृहता

एक बार सिक्खशिरोमणि गुरु गोविन्दसिंह यमुना नदी के किनारे बैठे थे। उनका एक धनिक भक्त वहाँ आया और उन्हें प्रणाम कर उसने श्रद्धावश उनके सम्मुख स्वर्ण के दो कंगन र